विवेक ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)
वर्ष: २२
अंक: ४

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर

★ १९८४ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २।।)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर–४९२००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

ग्राहकों को विशेष सूचना

(१) जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा इस चतुर्थ अंक के साथ समाप्त हो रहा है, वे कृपया अगले वर्ष के लिए अपने चन्दे का ८) संलग्न मनिआर्डर फार्म द्वारा भिजवा दें। आपमें से जिनका सम्पूर्ण चन्दा जमा नहीं है, वे भी कृपया संलग्न मनीआर्डर फार्म में दर्शायी बकाया राशि भेजकर वर्ष की अपनी समस्त प्रतियाँ सुरक्षित करवा लें।

(२) **ग्राहकों से निवेदन है कि वे मनिआर्डर के कूपन में भी अपना नाम और पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का भी अवश्य उल्लेख करें तथा नये ग्राहक लिख दें—"नया ग्राहक"। यदि पुराने ग्राहकों को अपनी ग्राहक-संख्या का स्मरण न हो, तो वे कृपया लिखें—"पुराना ग्राहक"।**

(३) विवेक-ज्योति त्रैमासिक पत्रिका के अंक ग्राहकों को जनवरी, अप्रैल जुलाई और अक्तूबर के मध्य भाग तक डाक द्वारा भेज दिये जाते हैं। जिन्हें पत्रिका न मिले, वे न मिलने की शिकायत कृपया सम्बन्धित महीने के अन्त तक हमारे पास अवश्य भेज दें।

(४) इसी प्रकार जिन ग्राहकों को प्राय: डाक की अव्यवस्था के कारण पत्रिका न मिलने की शिकायत रहती है, उनसे अनुरोध है कि वे यदि प्रति अंक १)९० का अतिरिक्त व्यय वहन करके पत्रिका वी. पी. से मँगवाएँ, तो सभी अंक उन्हें सुरक्षित मिल जाएँगे। ग्राहकों पर यह अतिरिक्त व्यय-भार पड़ने का हमें दुःख है, पर पत्रिका की सुरक्षित प्राप्ति का यही सरल उपाय है। आशा है आप हमें इसमें सहयोग देंगे। जिन ग्राहकों को हमारा यह सुझाव मान्य है, वे कृपया हमें इसकी सूचना दें।

(५) **पत्र लिखते समय अपनी ग्राहक-संख्या तथा अपने नाम एवं पूरे पते का स्पष्ट रूप से अवश्य उल्लेख करें।**

—व्यवस्थापक

'विवेक-ज्योति'

अनुक्रमणिका

कवर चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
प्राप्त कराये गये कागज पर मुद्रित।

मुद्रण स्थल : नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर—४५२००९

“आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च”

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २२] अक्तूबर—नवम्बर—दिसम्बर [अंक ४

★ १९८४ ★

क्लेशों से मुक्ति कब ?

शवाकारं यावद्भजति मनुजस्तावदशुचिः
परेभ्यः स्यात्क्लेशो जननमरणव्याधिनिलयः ।
यदात्मानं शुद्धं कलयति शिवाकारमचलं
तदा तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि ।।

—श्रुति भी यही कहती है कि मनुष्य जब तक इस मृतकतुल्य देह में आसक्त रहता है, तब तक वह अत्यन्त अपवित्र रहता है और जन्म, मरण तथा व्याधियों का आश्रय बना रहकर उसको दूसरों से अत्यन्त क्लेश भोगना पड़ता है। किन्तु जब वह अपने कल्याणस्वरूप अचल और शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, तो उन समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

—विवेकचूड़ामणि, ३९७

अग्नि-मंत्र

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

अमेरिका,

२० नवम्बर, १८९९

अभिन्नहृदय,

शरत् के पत्र से समाचार विदित हुए। . . .तुम्हारी हार-जीत के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम लोग समय रहते अनुभव प्राप्त कर लो। . . .मुझे अब कोई बीमारी नहीं है। मैं पुनः . . . विभिन्न स्थलों में घूमने के लिए रवाना हो रहा हूँ। चिन्ता का कोई स्थान नहीं है, माभैः। तुम्हारे देखते-देखते सब कुछ दूर हो जायगा, केवल आज्ञा पालन करते जाना, सारी सिद्धि प्राप्त हो जायगी।——जय माँ रणरंगिणी ! जय माँ, जय माँ रणरंगिणी ! वाह गुरु, वाह गुरु की फतह !

. . .सच तो यह है कि कायरता से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है; कायरों का कभी उद्धार नहीं होता है——यह निश्चित है। और सारी बातें मुझसे सह ली जाती हैं, कायरता सहन नहीं होती। जो उसे नहीं छोड़ सकता, उसके साथ सम्बन्ध रखना क्या मेरे लिए सम्भव हो सकता है ? . . .एक चोट सहकर वेग से दस चोटें जमानी होंगी. . .तभी तो मनुष्यता है। कायर लोग तो केवल दया के पात्र हैं ! !

आज महामाई का दिवस है, मैं आशीर्वाद दे रहा हूँ कि आज की रात्रि में ही माँ तुम लोगों के हृदयों में नृत्य करे एवं तुम लोगों की भुजाओं में अनन्त शक्ति प्रदान करे ! जय काली, जय काली, जय काली ! माँ अवश्य

ही अवतरित होगी—महाबल से सर्वजय—विश्वविजय होगी; माँ अवतरित हो रही है, डरने की क्या बात है? किससे डरना है? जय काली, जय काली! तुम्हारे एक-एक व्यक्ति की पद-चाप से धरातल कम्पित हो उठेगा।...जय काली! पुनः आगे बढ़ो, आगे बढ़ो! वाह गुरु, जय माँ, जय माँ, काली, काली, काली! तुम लोगों के लिए रोग, शोक, आपत्ति, दुर्बलता कुछ भी नहीं है! तुम्हारे लिए महाविजय, महालक्ष्मी, महाश्री विद्यमान हैं। माभैः माभैः। विपत्ति की सम्भावना दूर हो चुकी है, माभैः! जय काली, जय काली!

विवेकानन्द

पुनश्च—मैं माँ का दास हूँ, तुम लोग भी माँ के दास हो—क्या हम नष्ट हो सकते हैं, भयभीत हो सकते हैं! चित्त में अहंकार न आने पावे, एवं हृदय से प्रेम दूर न होने पावे। तुम्हारा नाश होना क्या सम्भव है? माभैः! जय काली, जय काली!

यदि तुम सचमुच मेरी सन्तान हो, तो तुम किसी वस्तु से न डरोगे और किसी बात पर न रुकोगे तुम सिंह तुल्य होगे। हमें भारत को और पूरे संसार को जाग्रत करना है।... मेरी सन्तान को आवश्यकता होने पर एवं अपने कार्य की सिद्धि के लिए आग में कूदने को तैयार रहना चाहिए।

—स्वामी विवेकानन्द

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

सातवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुडगाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्री श्री रामकृष्ण कथामृत-प्रसंग' प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की अत्यन्त उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। —स)

ठाकुर को स्टीमर में घुमाने ले जाने के लिए केशव सेन आये हैं। ठाकुर भी नौका पर जा रहे हैं। मास्टर महाशय इस दृश्य का वर्णन करते हैं। साथ-साथ गंगा का, दक्षिणेश्वर मन्दिर का, नीले आकाश का भी वर्णन है, और सर्वोपरि, समस्त सौन्दर्य के उत्स श्रीरामकृष्ण का वर्णन है। ऐसे परिवेश में केशव के साथ ठाकुर का मिलन होगा, यह मास्टर महाशय देखेंगे।

रामकृष्ण और केशव—दोनों का विपरीत भाव

उन दिनों बंगाल का शिक्षित युवकसमाज केशव सेन के गुणों पर मुग्ध था। केशव ने अपनी विद्वत्ता, अपनी असाधारण वाग्मिता और, सर्वोपरि, अपनी निराकार ब्रह्म की उपासना के द्वारा एक नये आध्यात्मिक जीवन का पथ-संकेत दिया था। इस सबके कारण वे उस समय के नवशिक्षित युवकसमाज के समक्ष आकर्षण का केन्द्र

बन गये थे। और उस शिक्षित युवासमाज में एक थे मास्टर महाशय। इसीलिए अत्यन्त स्वाभाविक रूप से उन्होंने केशव सेन के साथ ठाकुर की तुलना कर यह समझाने की चेष्टा की है कि इन दोनों महापुरुषों में मिलन का सूत्र कहाँ है। वे सोचते हैं कि केशव क्या देखकर ठाकुर के प्रति इतनी भक्ति रखते हैं और ठाकुर भी क्या देखकर केशव के प्रति इतने आकृष्ट हैं। वैसे देखा जाय तो इन दोनों की जीवनधारा सर्वथा विपरीत दिशाओं में प्रवाहित हो रही थी। केशव शिक्षित हैं, इस दृष्टि से देखने पर श्रीरामकृष्ण प्रायः निरक्षर हैं; ठाकुर मूर्ति-पूजा करते हैं और उधर मूर्तिपूजा के विरोध में ही केशव का प्रचार है; ठाकुर सनातनपन्थी हैं, वे तिथि-नक्षत्र, प्राचीन पूजा-पद्धति आदि सब कुछ मानते हैं, और उधर इन सबको न मानना ही केशव के धर्म की रीति-नीति है। केशव गृहस्थ हैं, और ठाकुर संन्यास का कोई चिह्न धारण न करते हुए भी संन्यासियों के आदर्श हैं। फिर जिन्हें प्राचीन संन्यासी कहते हैं, ठाकुर वैसा भी नहीं हैं, क्योंकि उनके जटाजूट नहीं, शरीर पर भस्म नहीं, उल्टे पाँव में जूता है, यहाँ तक कि बीच-बीच में मोजा भी पहनते हैं। अतः प्राचीन दृष्टि से कहना होगा कि ठाकुर या तो अत्यन्त शृंखलाहीन हैं या फिर वे अत्यन्त प्रगति-शील। मोटी बात यह है कि पुरातन-पन्थियों को उनमें कोई आकर्षण प्रतीत नहीं होता, फिर आधुनिकों की दृष्टि में वे बड़े पिछड़े हुए हैं। शिक्षा में, भाषा के विन्यास में, वेशभूषा में——सभी में पिछड़े हुए हैं। कुर्ता पहनते तो हैं, लेकिन किस प्रकार से उसे पहनेंगे यह निश्चित नहीं; यद्यपि धोती पहनते हैं, पर वह कमर में रहेगी कि

बगल में दबी रहेगी, कुछ ठीक नहीं। फलतः इस प्रकार के व्यक्ति को लेकर समाज में सबके साथ चलना-फिरना सम्भव नहीं होता। इसीलिए तो महर्षि देवेन्द्रनाथ ने ठाकुर को निमंत्रण देकर भी फिर वाद में खबर देकर आने से मना कर दिया था। ऐसी थी तब समाज में उनकी स्वीकृति। इस प्रकार के ठाकुर में आधुनिक दृष्टिसम्पन्न केशव ने ऐसा क्या देखा, और फिर ठाकुर भी केशव के प्रति, जो उन दिनों सनातन-पन्थियों की दृष्टि में प्रायः विधर्मी थे, क्या देखकर इतने आकृष्ट हुए थे? जो हो, हम जानते हैं कि केशव सेन के साथ मास्टर महाशय की बड़ी घनिष्ठता थी——इतनी कि उन्हें भी उनके जहाज में सम्मानपूर्वक स्थान मिला था। अब वे ब्राह्मभक्तों की दृष्टि से ठाकुर को देखेंगे, फिर ठाकुर की दृष्टि से भी देखेंगे कि ब्राह्मभक्त किस प्रकार दिखायी देते हैं। यह कौतूहल लिये हुए वे आये हैं, देख रहे हैं और वर्णन कर रहे हैं।

इधर ठाकुर नौका पर चढ़ते ही समाधिस्थ हो गये। ठाकुर ने मन की बात खोलकर नहीं कही, इसलिए हम नहीं जानते कि वे अचानक समाधि में क्यों चले गये। पर अनुमान से यह बात समझ में आती है कि हो सकता है उस समय उनके मन में केशव की बात आयी हो—— धर्मात्मा केशव, भक्त केशव, ईश्वरानुरागी केशव की बात, और वही सोचते-सोचते उनके मन में श्रीभगवान् की बात आयी हो, इसलिए वे समाधिस्थ हो गये हों। ब्राह्मभक्त इस देवदुर्लभ दृश्य का आनन्द ले रहे हैं। भगवान् का चिन्तन करते हुए मनुष्य किस सीमा तक तन्मय हो सकता है कि उसे देहज्ञान तक न रहे, यह बात

किताबों में लिखी मिल सकती है, लेकिन कितने लोगों ने इस स्थिति को देखा है ? यह कोई आवेश की अवस्था नहीं है। आवेश तो मूर्छा या अज्ञान की अवस्था होती है। हमारे कुछ मित्रों ने वैसी दशा का अनुभव किया है। कई बार कीर्तन करते-करते वे सुध-बुध भूल जाते थे। उन्हें उस समय जैसे कोई बाहरी ज्ञान नहीं रहता था, वैसे ही भीतरी ज्ञान भी नहीं रहता था। यह कोई अनुभूति नहीं है, बल्कि अनुभूति का लोप है। सब प्रकार की भाव-समाधि के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कह रहा हूँ, साधारण रूप से जो बातें हमारी आँखों के सामने दिखायी पड़ती हैं, उनकी बात कहता हूँ। इतना इसलिए कहा कि हम लोगों को इस सम्बन्ध में खूब सावधान रहने की आवश्यकता है, क्योंकि यह न जानने से हम बाह्य सादृश्य को देखकर साधनापथ की एक अनुन्नत अवस्था को एक उन्नत आध्यात्मिक अवस्था समझने की भूल कर सकते हैं। लेकिन ठाकुर की अवस्था भिन्न प्रकार की है। वे आनन्द के सागर में निमज्जित हैं; उनके चारों ओर आनन्द लहरें मार रहा है और वही आनन्द उनके मुख-मण्डल पर झलक रहा है।

जो हो, बड़ी सावधानी से उन्हें जहाज पर चढ़ाया गया। वे चल नहीं पा रहे हैं; कोई भी इन्द्रिय कार्य नहीं कर रही है। किसी प्रकार उनको केबिन पर बैठाया गया, चारों ओर ठेलमठेल मच गयी। समाधि से उतरते समय उनके मुख से पहला वाक्य निकला, "माँ, मुझे यहाँ क्यों ले आयी ? क्या मैं इन लोगों की बेड़ में से इनकी रक्षा कर सकूँगा ?"

ठाकुर ने इस प्रकार कशाघात करते हुए और भी

अनेक बार अनेक स्थानों पर बात कही है। लेकिन ऐसे कशाघात से हम लोगों के मन में द्वेषभाव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि जो यह कशाघात कर रहे हैं, वे हमारे प्रति अपार करुणासम्पन्न हैं। हम लोग जिस तरह की गाढ़ी नींद में सो रहे हैं, बिना ऐसी चाबुक की मार लगे हमारी नींद भागेगी कैसे ? हम जानते हैं कि एक ओर वे तीखी समालोचना करते हैं, तो दूसरी ओर हमारे लिए उनमें अपार सहानुभूति और कल्याण-कामना है—ऐसी कल्याण-कामना कि वे अपनी मुक्ति को भी तुच्छ जान माँ से कहते हैं, "माँ, मुझे बेहोश न कर, मैं इन लोगों से बात करूँगा।" जिस समाधि-अवस्था को प्राप्त करने के लिए ऋषि-मुनि-योगीजन जन्म-जन्मान्तरों तक साधना करते रहते हैं, जीवों का दुःख दूर करने के लिए वे उस अवस्था को भी तुच्छ समझ तिरस्कृत कर देते हैं। इसीलिए ठाकुर जब यह कहते हैं कि "माँ, क्या मैं इन लोगों की बेड़ में से इनकी रक्षा कर सकूँगा," तब उनका अभिप्राय यह है कि 'माँ, मुझे शक्ति दे, सामर्थ्य दे, जिससे मैं इन लोगों की इस बेड़ को तोड़ इन्हें मुक्त कर सकूँ।'

इसके पश्चात् एक भक्त बोले, "पवहारी बाबा ने अपने कमरे में आपका एक फोटो रखा है।"

ठाकुर हँसकर बोले, "इस खोल का ?"

ठाकुर की समाधि-मूर्ति और फोटो

जिनका फोटोग्राफ है, उनके आदर्श के स्मारक की दृष्टि से यदि फोटोग्राफ हो तो अन्य बात है, पर उसे घर को सजाने की दृष्टि से अन्य वस्तुओं में एक वस्तु की तरह रखा गया हो तो उस फोटोग्राफ के रखने की कोई सार्थकता नहीं है। यह बात वे पवहारी बाबा को लक्ष्य करके नहीं

कह रहे हैं; यह वे सर्वसामान्य के लिए कहते हैं। फोटो-ग्राफ के पीछे जो तत्त्व है, जो आदर्श है, यदि हम उस तत्त्व को, उस आदर्श को ग्रहण करने की दृष्टि से उस फोटोग्राफ को देखें, तभी उस पर फूल चढ़ाना, उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करना सार्थक है, अन्यथा वह मात्र एक चित्र होकर रह जायगा, जो कभी भी हमें कल्याण के मार्ग में आगे नहीं ले जा सकेगा।

हम जानते हैं कि इस समय जिस फोटोग्राफ की घर-घर में पूजा हो रही है, उसे देखकर उन्होंने स्वयं एक दिन प्रणाम किया था। कहा था, "एक दिन इस चित्र की घर-घर में पूजा होगी। यह एक उच्च योग की अवस्था है।" उन्होंने तो पहचान लिया था, पर क्या हम उसी दृष्टि से देखकर, विचार करके इस फोटोग्राफ को अपने आध्यात्मिक पथ में प्रगति का उपाय समझकर पूजा करते हैं ? यदि ऐसा करें, तभी वह पूजा सार्थक होगी, अन्यथा सब व्यर्थ है। 'इस खोल का' कहकर ठाकुर मानो यही भाव प्रकट करना चाहते हैं। तभी तो हम देखते हैं कि जिन ठाकुर के लिए शरीर अत्यन्त तुच्छ था, वे ही ठाकुर अपनी समाधि-अवस्था का चित्र देखकर स्वयं अभिभूत हो यह कहते हुए प्रणाम करते हैं कि कालान्तर में "घर-घर में इसकी पूजा होगी।" उनकी वह भविष्य-वाणी कहाँ तक सफल हुई है, उसका प्रमाण आज हमारे चारों ओर स्पष्ट दिखायी दे रहा है।

भक्तों का हृदय उनका निवासस्थान

ठाकुर कहते हैं, "पर एक बात है, भक्तों का हृदय है उनका निवासस्थान, उनका बैठकखाना।" ठाकुर इस बात को बहुत जोर देकर कह रहे हैं कि संसार में सब कुछ

अनित्य है, इसमें सन्देह नहीं; पर उन्हीं अनित्य वस्तुओं के भीतर भी कहीं-कहीं उनका विशेष प्रकाश देखा जाता है। अनित्य वस्तु कहकर यदि समस्त जगत् को तुच्छ समझ लें, तब तो उनको पकड़ने का जो सूत्र हमारे पास है वह छिन्न हो जाएगा। उनका अनुभव हम इस जगत् में न करके बाहर कहीं करेंगे, ऐसा तो हम सोच ही नहीं सकते। अपने चिन्तन के राज्य में हम ऐसा मानते हैं कि वे इस समस्त जगत् में परिव्याप्त हैं, अथवा यह कि वे हमारे हृदय के मध्य में विराजमान हैं। फिर हम यह भी कहते हैं कि वे अन्तःकरण में विद्यमान हैं--'तदन्तरस्य सर्वस्य'--वे इस समस्त के भीतर रहते ह और फिर 'बाह्यतः' (बाहर) भी रहते हैं। यहाँ यह जो बाहर कहा, तो बाहर माने कितनी दूर? उसकी सीमा हम नहीं जानते। तो फिर बाहर और भीतर किस दृष्टि से? किसी एक सीमा को लक्ष्य करके कह सकते हैं कि उसके भीतर और बाहर। देह को एक सीमा मान लिया; मानकर कहा कि वे इस देह के भीतर हैं, फिर बाहर भी हैं। इसीलिए साधकों ने कहा है कि भक्तों के हृदय में उनका प्रकाश होता है। वे हैं तो सर्वत्र, पर "भक्त का हृदय उनका बैठकखाना है" अर्थात् वहाँ वे विशेष भाव से विराजमान हैं। विशेष भाव माने क्या? क्या वे वहाँ और भी घनीभूत भाव से रहते हैं? भगवान् ऐसी कोई वस्तु नहीं हैं, जिसको एक स्थान पर घना कर दिया जाय और दूसरे स्थान पर तरल। वे सर्वत्र हैं। समस्त विश्व में अथवा उसके बाहर वे जिस प्रकार विराजमान हैं, उसी प्रकार वे एक रजकण में भी हैं। लेकिन फिर भी हमारे मन में प्रश्न उठता है कि हम उनको कहाँ पर

पकड़ेंगे ? तो, हमें पकड़ा देने के उद्देश्य से कहते हैं कि यदि पकड़ना हो तो ऐसा स्थान है, जहाँ उनका प्रकाश अधिक है। ऐसा नहीं कहा जा रहा है कि उनकी 'सत्ता' अधिक है। कहा जा रहा है कि 'प्रकाश' अधिक है, और वह है भक्त के हृदय में। अतएव उनका अनुभव करने के लिए हमें उस भक्त-हृदय में खोजना होगा, जहाँ उनका सान्निध्य हम सहज ही समझ सकेंगे। यदि ऐसा न हो तो भले ही वे समस्त विश्व में ओतप्रोत होकर विद्यमान हों, पर विश्व के मुझ क्षुद्रातिक्षुद्र का इन विश्वव्यापी को लेकर क्या लाभ, जिन्हें न हम पकड़ सकें, न छू सकें, न जिनकी धारणा कर सकें ? हमारा प्रयोजन तो उससे सधेगा, जिसे हम पकड़ सकें, छू सकें, जिसका हम अनुभव कर सकें। इसीलिए ठाकुर ने हम लोगों की पहुँच के भीतर उनका पता दिया है, और वह है भक्त का हृदय।

ज्ञानी और भक्त

इसके पश्चात् ठाकुर भागवत की बात कहते हैं–– "ज्ञानी जिसे ब्रह्म कहते हैं, योगी उसी को आत्मा कहते हैं और भक्त, भगवान्।" कहना अनावश्यक है कि यहाँ ब्रह्मज्ञानी कहने से जिन ब्राह्मसमाजी भक्तों का बोध होता है, वे ठीक ज्ञानी की कोटि में नहीं आते। वे भक्त हैं। ठाकुर ने यह बात अन्यत्र अन्य प्रकार से कही है कि ज्ञानी वह है, जो विचार करते-करते तत्त्व को जानने की चेष्टा करता है, और ब्राह्मभक्त तो भगवान् का उनके गुणों के द्वारा आस्वादन करने का प्रयास करते हैं। अतः वे निराकारवादी तो हैं, लेकिन सगुण ब्रह्म के उपासक हैं। वे ऐसे भगवान् को चाहते हैं जिनके भीतर दया है, स्नेह है, माया-ममता है, जिन्हें हम माता या पिता से सम्बोधित

करके तृप्ति पाते हैं। हम ऐसे भगवान् को चाहते हैं, जो हमारी प्रार्थना सुनें, हमारी आकांक्षाओं को पूर्ण करें, हमें मुक्ति के पथ से ले चलें। ब्रह्म यह सब नहीं करता। तो फिर ब्रह्म का चिन्तन क्यों करना ? जो अद्वैत वेदान्तवादी हैं, वे फिर उस ब्रह्म की बात क्यों करते हैं ? ब्रह्म भला उनके किस काम का ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि ब्रह्म को किसी काम में लाना नहीं है, अपितु आवश्यकता है ब्रह्म को जानने की। यह जानना यदि हो जाय, तब हम समझ सकेंगे कि हम यह जो सुख-दुःखादि का भोग कर रहे हैं, वह हमारे अज्ञान के कारण हो रहा है। हमारा स्वरूप वह परब्रह्म है, जो सब प्रकार से सुख-दुःख के अतीत है। जब ब्रह्मानुभूति में प्रतिबन्धक तत्त्व दूर हो जाएँगे, तब मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित हो ब्रह्म हो जाएगा। ठाकुर कह रहे हैं, लेकिन भक्तों का भाव ऐसा नहीं है। वे चीनी होना नहीं चाहते, चीनी खाना पसन्द करते हैं। वे उसका आस्वादन करना चाहते हैं––माँ के रूप में, पिता के रूप में, सखा के रूप में, आत्मीय-परिजन आदि विभिन्न रूपों में। अब उस आस्वादन के लिए उसके रूप की कल्पना करनी होगी या नहीं, वह यहाँ पर गौण है। ब्राह्मभक्त रूप की कल्पना नहीं करते, लेकिन आस्वादन की आकांक्षा रखते हैं। अतः वे भक्त हैं। इस दृष्टि से विचार करके ठाकुर केशव सेन के भीतर एक ऐसा भक्ति से भरा हृदय देखते हैं, जहाँ भगवान् के लिए व्याकुलता है, आन्तरिकता है। और यही केशव के साथ ठाकुर के मिलन का वह सूत्र है, जिसकी खोज मास्टर महाशय ने इस प्रसंग में की थी।

○

श्रीरामकृष्ण-महिमा (७)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर, बिहार में कार्यरत हैं। —स०)

(गतांक से आगे)

पाठक—मन क्या है ? मन, मन हमेशा कहते अवश्य हैं, किन्तु वह क्या वस्तु है, यह कुछ देखने-सुनने में नहीं आता।

भक्त—तुम बीच-बीच में बड़ी कठिन बातें रखते हो। मैं मूर्ख व्यक्ति ठहरा, तुम्हें मन की बात क्या कहूँगा, फिर भी ठाकुर जैसा दिखाते हैं, वह कहता हूँ, सुनो——

विलायती जादूगरों में विल्सन एक उत्कृष्ट जादूगर है। विल्सन सब तरह के जादू जानता है, पर जादू का खेल दिखाना अकेले तो नहीं होता है, इसलिए उसे दूसरे को अपने स्वयं का जादू सिखाना पड़ता है। जो लोग सीखते हैं, उनमें से कोई-कोई ऐसे कुशल होते हैं कि विल्सन के समान ही प्रायः दक्ष हो जाते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी रामकृष्णदेव की एक शक्ति है। उस शक्ति का स्वभाव है केवल संसार में जादू दिखाना। यह शक्ति जिनको लेकर जादू दिखाती है, उनमें प्रधान शिष्य है यह मन। मन ही उस शक्ति का प्रमुख खिलाड़ी है। मन का खेल

देख पाने और समझ सकने पर तुम संसार का खेल समझ सकोगे और देख सकोगे।

पाठक—इसे आप स्पष्ट करके कहिए। यह तो पहेली जैसा लगता है।

भक्त—यह मन एक बड़े मजे की चीज़ है। इसका एक काम है खेलना। यह केवल खेलना चाहता है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर, हर प्राणी के भीतर यह तरह-तरह से खेल करता है। इसके खेल भी विभिन्न प्रकार के हैं। उन्हें देखने से वे सहजता से समझ में नहीं आते। वे सब उस एक मन के ही खेल हैं। यह मन एक होते हुए भी विभिन्न प्रकार के खेल खेलने के लिए अनेक हुआ है। इसका खेल अनेक जन्मों में भी खत्म नहीं होता। एक शरीर में जितना हो सकता है, खेलता है, फिर उस शरीर के नष्ट होने पर वह अपनी खेल-सामग्री लेकर एक नये शरीर में प्रवेश करता है। उस शरीर में फिर से खेल करता है। मन के सोने के लिए एक बिस्तर है। जब तक वह वहाँ जाकर घोर सुषुप्ति में सो नहीं जाता, तब तक उसके खेल का विराम नहीं। बिस्तरे में जहाँ एक बार लेटा तो फिर उठने का नहीं।

मन का कोई एक विशेष रूप अथवा स्वभाव नहीं है। वह जिस-जिस शरीर में खेल करता है, उस-उस शरीर का रूप उसका अपना रूप हो जाता है तथा उन शरीरों का स्वभाव उसका अपना स्वभाव। यह सब देख-सुनकर वह वस्तु क्या है, समझ लेना होता है। मन शरीर के भीतर है, अपनी मौज में खेल कर रहा है, पर यदि उसे पकड़ने अथवा देखने का प्रयास करो तो ऐसा छिप जाता है कि तीनों लोकों में खोजने पर भी उसे पकड़

पाना अथवा देखना सम्भव नहीं होता। इस तरह यह जो छिप जाता है वह भी उसका एक खेल है।

मन शरीर के भीतर सर्वव्यापी होकर विद्यमान है, जानते हो कैसे? ठीक जैसे तिल के भीतर तेल विद्यमान है। तुम कह नहीं सकते कि वह अमुक स्थान में नहीं है। मन यदि शरीर से अथवा शरीर के किसी भाग से निकल जाय, तो शरीर अथवा शरीर का वह भाग जड़ हो जाता है।

विल्सन के जादू में घोड़े का खेल देखा है तो? मन का भी उसी प्रकार घोड़े का खेल है। घोड़े उसके बड़े काबू में हैं। वह जो कहता है, घोड़े वही सुनते हैं। यह मन ही मानो घोड़ों का प्राण है। जब घोड़े अस्तबल में रहते हैं, तब मानो मरे हुए-से रहते हैं। पर जैसे ही मन उनकी पीठ पर सवार हो लगाम सँभालता है कि वे मानो उच्चैःश्रवा हो जाते हैं और बिजली से भी तेज भागते हैं। मन के ये घोड़े पाँच हैं। उनके नाम क्या हैं, जानते हो? आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा। मन यदि इनकी पीठ पर सवार न हो, तो ये कोई कार्य नहीं कर सकते। आँखें देख नहीं सकतीं, कान सुन नहीं सकते, नाक सूँघ नहीं सकती, त्वचा अनुभव नहीं कर सकती। इन घोड़ों का खेल मन का सीधा-सादा खेल है। मन के और भी बड़े दाँव-पेंच के खेल हैं, वह कुछ-कुछ कहता हूँ सुनो——

समुद्र में जैसे नाना प्रकार के रत्न हैं, मन-समुद्र में भी उसी प्रकार बहुत तरह की वस्तुएँ हैं। इन सब वस्तुओं का नाम है विषय-ज्ञान। मन घोड़े पर चढ़कर जो कुछ देख-सुनकर सीखता है, वह सब विषय-ज्ञान है। मन विषय-ज्ञान को अपने भीतर रखकर समुद्र के समान

एकरूप होकर रहता है। उसे जब जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, वह स्वयं गोताखोर बनकर स्वयं के भीतर डुबकी लगाता है और उस वस्तु को निकाल लाता है। जब वह गोताखोर का काम करता है, तब लोग उसे 'स्मृति' के नाम से पुकारते हैं। फिर वही मन जब अच्छा-बुरा, सत्-असत् विचार करने के लिए दो होकर आपस में झगड़ा करता है और अन्त में समाधान करता है, तब लोग उसे 'बुद्धि' का नाम देते हैं। फिर जब वही मन एकरूप हो विषयों के समस्त चित्र अपने भीतर अंकित करता है, तब लोग उसे 'चित्त' कहते हैं। और जब वह 'मैं' 'मैं' कहता हुआ मत्त होकर घूमता है, तब मन को 'अहंकार' कहा जाता है।

मन की साज-सज्जा भी अनेक प्रकार की है। तुम लोग तो थियेटर के लोग हो, अच्छी तरह जानते हो कि एक ही अभिनेता तरह-तरह की पोशाक पहनकर दर्शकों के सामने विभिन्न रूप और चरित्र प्रस्तुत करता है। उसी प्रकार मन भी तरह-तरह के वेश धारण कर विभिन्न प्रकार के खेल दिखाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की पोशाक पहनकर वह जो सब रूप और स्वभाव प्रस्तुत करता है, वे पैशाचिक रूप और स्वभाव हैं। यह सब रूप और स्वभाव त्यागकर जब यह ईश्वर-आराधना में प्रवृत्त होता है, तब वह देवमूर्ति धारण करता है। मन की पैशाचिक मूर्ति देही का परम शत्रु है और देवमूर्ति उसका परम बन्धु। मन का पैशाचिक रूप मलिन रूप है, वह जीव को बद्ध करता है। और देवरूप शुद्ध रूप है, वह जीव को मुक्त करता है। मलिनावस्था में मन का स्वभाव कैसा होता है जानते हो?—ठाकुर कहते थे, ठीक कुत्ते

की पूँछ की तरह। अभी खींचा तो सीधी हो गयी और छोड़ दिया तो उसी क्षण टेढ़ी की टेढ़ी। मन की दो अवस्थाएँ हैं——मलिन और शुद्ध। मलिन अवस्था में मन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। शुद्ध अवस्था में यदि उसे ईश्वर के पादपद्मों में बाँधकर रखा जा सके, तभी वह ठीक रहता है, नहीं तो संसार में छोड़ देने से फिर से मलिन अवस्था में जा पडता है। ठाकुर कहते थे——यदि हाथी को नहलाने-धुलाने के बाद ले जाकर पीलखाने में बाँध दिया जाय तो वह स्वच्छ रहता है, अन्यथा उसे खुला छोड़ देने पर वह फिर से अपने शरीर में धूल डालकर उसे पहले-जैसा ही गन्दा कर डालता है। शुद्ध अवस्था में मन का नाम फिर मन नहीं रह जाता, तब उसे कहते हैं चैतन्य। चैतन्य होने पर वह उस चैतन्यमय का साक्षात्कार करता है, जिसकी चेतनता से जगत् चैतन्यमय हुआ है। तब वह नीचे उतरकर बदमाशी नहीं कर पाता।

मन का एक स्वभाव है——तुम उसे जहाँ रखोगे, वह उस समय उसके-जैसा हो जाता है। यदि जड के साथ रखो तो जड होकर रहेगा और यदि चैतन्य के साथ रखो तो चैतन्य होकर रहेगा——ठीक उसी प्रकार जैसे अंगार को मिट्टी में डाल दो तो वह मिट्टी-जैसा हो जाता है और यदि आग में डालो तो आग होकर रहता है।

जैसे तार को झंकृत करने से उससे नाना प्रकार के स्वर निकलते हैं, उसी प्रकार मन अपने आप पर आघात करके विभिन्न स्वरों में गाता है। व्यक्ति का शरीर ही मन की वीणा है। शरीर के चार प्रकार हैं——स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण। जब मन स्थूल शरीर में खेल करता है, तब वह काम-कांचन के पीछे दौड़ता फिरता

है। उस समय काम-कांचन के सिवाय और दूसरी चीज़ें भी हैं उधर उसकी बुद्धि नहीं जाती। तब वह खाना, सोना और इन्द्रिय-भोगों में लिप्त रहना ही जानता है।

जब मन सूक्ष्म शरीर में खेलता है, तब देही शरीर में उष्मा का अनुभव करता है। वह उस समय मन के खेल को देख पाता है। तब वह मन के साथ लड़ाई कर पाता है। लड़ाई करते-करते कभी हारता है और कभी जीतता है। मन देही को अपने आपको दिखा उसके साथ लड़ाई करके मजा लेता है।

कारण शरीर में मन संयत और शान्त होकर रहता है तथा देही को ईश्वर-दर्शन का आनन्द उपभोग कराता है। महाकारण में वह स्वयं सुप्त हो जीव को निद्राभिभूत कराता है। इस नींद में वह स्वयं के रूप, गुण, वर्ण को खोकर जीव को परम शान्ति की अवस्था में पहुँचा देता है।

इसे अच्छी तरह समझाकर कहता हूँ, सुनो——सितार में जैसे सोलह पर्दे होते हैं और प्रत्येक पर्दे से अलग-अलग सुर निकलते हैं, उसी प्रकार इस देहरूपी सितार के सात पर्दे हैं। मन इनमें से प्रत्येक पर्दे में विभिन्न सुरों में गाता फिरता है। परमहंसदेव कहा करते थे कि पहले के तीन पर्दों में एक दोष यह है कि मन जब इन तीन पर्दों में बजता है, तब जीव को एकदम बेताल बना देता है। जीव का लक्ष्य तब केवल आहार, निद्रा और इन्द्रिय-सुख रहता है। जीव काम-कांचन को सब कुछ मान, होश गँवाकर पड़ा रहता है। मन जब चौथे पर्दे पर उठता है, तो देही की नींद टूटने-टूटनेवाली होती है। अभी सोता है और अभी नींद टूटने से चौंक उठता है। अब वह जान पाता है कि

काम-कांचन को छोड़ और भी आनन्द ी चीज़ें हैं। यह चैतन्य का घर है। इस स्थान से देही को ईश्वर के राज्य का आभास मिलता है। वह आभास पहले-पहल टिमटिमाता-सा, चंचल विद्युत् के समान क्षणिक होता है। अब उसके होश गँवाकर सोने का अवसर नहीं रहता। इस अवस्था के कुछ दिन और बीतने पर उसका शरीर और भी चैतन्यमय हो उठता है। पहले ईश्वर-राज्य का जो आभास मिला था, वह टिमटिमाता-सा था, पर अब वह उसे आलोकमय प्रतीत होता है, परन्तु उसकी चंचलता और स्थैर्य में विशेष अन्तर नहीं पड़ता, इसलिए भगवत्-कथा में एकाग्रचित्त होकर नहीं रह पाता। वह मक्खी की तरह हलवाई की मिठाई की थाल पर भी बैठता है और मेहतर की मैले की टोकरी पर भी। पाँचवे पर्दे पर मन के उटने से देही का पूर्व का स्वभाव लगभग बदल जाता है। अब उसे देखने पर पहले का व्यक्ति पहचान में नहीं आता। अब वह काम-कांचन लेकर सोना नहीं चाहता। शराबी को जैसे शराब का नशा होता है, उसी प्रकार इसे भी ईश्वरीय कथा के श्रवण और कीर्तन का नशा हो जाता है। अब उसका मन यथार्थ मन बनता है। अब वह अविद्या की कुरूपता को देख पाता है, मन के खेल का चक्कर समझ लेता है, मन के साथ युद्ध करना सीख लेता है, मन का पीछा करने में समर्थ होता है, मन की शैतानी को पकड़ने में सक्षम होता है, मन के गुड़िया-खेल को भाँप लेता है। मन जब छठे घर पर उठता है, तो देही ईश्वर के दर्शन कर पाता है, पर ईश्वर को छू नहीं पाता। ठाकुर कहते थे, जैसे लालटेन के भीतर जलती हुई दीपशिखा को बाहर से देखा जा सकता है,

पर यदि उसे छूना चाहें तो लालटेन का काँच बाधा देता है, उसी प्रकार देही इस स्थान पर बैठकर ईश्वर को देख पाता है, पर उसका स्पर्श नहीं कर पाता। एक आवरण उसे रोक रखता है। यह अवस्था जीव के लिए एक दुर्लभ अवस्था है। ठाकुर कहते थे कि पाँचवें और छठे घर के बीच की नौका-दौड़ के खेल में बड़ा मजा आता है।

यह नौका-दौड़ क्या होती है, जानते हो? गंगा में डोंगे लेकर घुड़दौड़ के समान दाँव लगाकर नौका-दौड़ का खेल देखा है तो? एक बार इस तट पर आना, फिर एक बार उस तट पर जाना, इसे ही नौका-दौड़ कहते हैं। यहाँ पर मन की नौका-दौड़ है—एक बार छठे घर पर, फिर एक बार पाँचवें घर पर अर्थात् एक बार ईश्वर का दर्शन करना, फिर पाँचवें घर में उतरकर उसी दर्शन का कीर्तन करना। इसके नीचे अर्थात् चौथी भूमि में वास्तव में मजा नहीं है, क्योंकि अविद्या-माया उसे अनेक बार अपनी शक्ति से ढँके रखती है। फिर इससे उच्चतर भूमि अर्थात् सप्तम भूमि पर मन के पहुँचने पर जीव के भोग करने की, आस्वादन करने की शक्ति नहीं रह जाती। यहाँ मन खो जाता है और जीव को समाधि लग जाती है। इसे ही मन का लय होना कहते हैं। लय कैसा है जानते हो?—जैसे एक बूँद गंगाजल अपने रूप-गुण को खोकर गंगा के जल में विलीन हो जाता है। मनरूप नमक का पुतला मानो गंगा के जल में गल जाता है। इतने दिनों बाद अब कहीं मन का खेल समाप्त होता है।

पाठक—आप तो मूर्ख व्यक्ति हैं। कोई शास्त्र आपने पढ़ा नहीं, ऐसा सभी कहते हैं, तब फिर आपने इतना सब कैसे जाना?

भक्त—मैंने तो तुम्हें पहले ही बताया है कि रामकृष्णदेव का दर्शन करने से सब दर्शन होते हैं, समस्त अवतारों के दर्शन होते हैं। उन्हें समझ लेने से सभी शास्त्रों के गूढ तत्त्वों को समझा जा सकता है, मनुष्य साधन-भजन का फल अनायास ही पा जाता है। उनके दर्शन का ऐसा प्रभाव है कि एक बेहोश बद्धजीव चैतन्य हो जाता है, निद्रित व्यक्ति जाग उठता है, मूर्ख पण्डित हो जाता है, अन्धा ज्योति-लाभ करता है, बहरा सुनने लगता है, लँगड़ा समुद्र लाँघ जाता है तथा गूँगा वक्ता बन जाता है। उनके वाक्य महामन्त्र हैं, उन सब वाक्यों का प्रभाव जबरदस्त है। जहाँ उनके वचन पड़ते हैं, वह स्थान अत्यन्त अन्धकारपूर्ण क्यों न रहा हो, एकदम प्रकाशमय हो जाता है। ठाकुर कहते थे——चिरकाल के अँधेरे कमरे में यदि एक बार माचिस की तीली जलायी जाय तो जैसे सारा कमरा प्रकाश से एकदम भर जाता है, उसी प्रकार ईश्वर की वाणी और उनकी कृपा पड़ते ही मनुष्य की सदा की अँधेरी कुटिया क्षणमात्र में प्रकाश से भर जाती है।

जिस प्रकार बारूद और अग्नि के संयोग से एक छोटा-सा गोला तोप के मुँह से निकलकर पहाड़ को ध्वस्त कर देता है, उसी प्रकार ठाकुर की बातों में ऐसी शक्ति है कि वह माया के गूढ आवरण को जिसने ईश्वर तथा ईश्वरीय समस्त तत्त्वों को ढँक रखा है, एकबारगी नष्ट कर देती है। ठाकुर की बातें बारूद के गोले के समान शक्तिशाली हैं।

ठाकुर के वचनों की और एक महिमा कहता हूँ सुनो——लोग जो बातें करते हैं, वे मानो हवाई बातें हैं, जो हवा में डूबती-उतराती हैं और हवा में ही खो जाती हैं।

पर ठाकुर की बातें उस प्रकार की नहीं हैं। उनके वाक्य जैसे ही निकले कि बस, कान के भीतर प्रवेश कर सीधे हृदय में पहुँच जाते हैं। जैसे ही हृदय में पहुँचे कि बस, कथित विषय का एक प्रतिबिम्ब हृदय में बन जाता है। किस प्रकार, जानते हो? जैसे इधर कैमरे का बटन दबाया और उधर फोटो खिच गया। जिसके हृदय में चित्र अंकित होता है, वह ठाकुर की बात को सुनकर, चित्र को देखकर विषय को अच्छी तरह समझ लेता है और हमेशा के लिए उसे सँजोकर रख लेता है। बाकी लोग जो बातें कहते हैं, वे हवाई बातें हैं, इस कान से घुसती हैं और उस कान से बाहर निकल जाती हैं, उनका कोई निशान बाकी नहीं रहता। जैसे एक जहाज जब पानी पर से जाता है तो उस समय पानी पर एक निशान बन जाता है, पर उसके बाद ही सब साफ हो जाता है, इतने बड़े जहाज ने पानी को दो भागों में जो बाँट दिया था उसका कोई चिह्न ही बाकी नहीं रहता, उसी प्रकार मनुष्य की बातें बोलते समय तो बड़ा हो-हल्ला मचाती हैं, पर कोई निशान नहीं बना पातीं, मनुष्य के भीतर घुस नहीं पातीं और अगर घुसती भी हैं तो उनके टिकने को जगह नहीं मिलती, जैसे लड़के मिट्टी के घड़े के टुकड़े लेकर पानी में छिनिमिनि* का खेल खेलते हैं, टुकड़े तेजी से पानी की सतह पर से कूदते हुए निकल जाते हैं, पानी के भीतर नहीं जाते।

---

* छिनिमिनि—बंगाल का एक खेल, जिसमें मिट्टी के घड़े के अथवा कलसी के टुकड़े लेकर तालाब के पानी में उसे इस तरह फेंकते हैं कि वह जल की सतह पर से फिसलता हुआ निकल जाता है।

ठाकुर की महिमा की और एक बात कहता हूँ सुनो——हृदय में उनकी बातों का जो अक्स बनता है, वह जीवन्त होता है। जीवन्त हो वह वीणाविनिन्दित कण्ठ से रामकृष्णदेव की महिमा के गीत गाता है, अत्यन्त मधुर गीत, जिसे सुनकर दावानल भी पानी हो जाय। कब गाता है, जानते हो? जब तुम शोकसन्तप्त हो उठते हो, जब तुम्हारे हृदय में अविद्या-माया आग लगाने की घात पर रहती है, ऐसे मुश्किल के समय में। और जानते हो वह क्या करता है? जब चोर-डाकू हमला करने के लिए आते हैं, तो तुम्हारे पुकारने के पहले ही वह परम हितैषी के समान अस्त्र-शस्त्र ले स्वयं ही बाहर निकल आकर ऐसी गर्जना लगाता है कि डाकू लोग भय के मारे भागने का रास्ता खोज नहीं पाते। अविद्या के राज्य में चोर-डाकुओं की कोई कमी तो है नहीं। वह तो केवल चोर-डाकुओं का ही राज्य है। वे सब ओर से घात लगाये बैठे हुए हैं। ऐसा सहायक न रहे तो क्या रक्षा हो सकती है? ये चोर-डाकू कौन हैं, जानते हो?——काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर और उनके बच्चे-कच्चे।

रामकृष्ण का दर्शन करने से, उनकी कृपा प्राप्त करने से जो भगवान् गुप्त थे, वे प्रकट हो जाते हैं; जो ईश्वर दूर थे, वे पास हो जाते हैं; जो ईश्वर वहाँ थे, वे यहाँ हो जाते हैं; जो ईश्वर वे थे, वे ये हो जाते हैं तथा देवी-देवतागण परिवार के ही लोग प्रतीत होते हैं। अब समझ लो रामकृष्ण क्या हैं! तुम लोगों ने रामकृष्ण का दर्शन किया है, उनका आश्रय लिया है, धीरे-धीरे तुम लोग भी समझ पाओगे। (क्रमशः)

○

मानस-रोग (२/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी रायपुर के इस आश्रम में विगत चार वर्षों से विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'रामचरित-मानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर प्रवचनमाला प्रदान करते आ रहे हैं। प्रस्तुत लेख उनके दूसरे प्रवचन का उत्तरार्ध है। इस प्रवचनमाला की तीन किस्तें 'विवेक-ज्योति' के पिछले तीन अंकों में प्रकाशित हो चुकी हैं। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। —स०)

समाधि में देवर्षि नारद की तल्लीनता को देख इन्द्र को चिन्ता हो जाती है। यहाँ सबसे बड़ी समस्या यह है कि नारद पर आक्रमण राक्षसों के द्वारा नहीं किया गया, बल्कि वह देवताओं की प्रेरणा से हुआ। यहाँ पर दो दर्शनों के टकराव का संकेत है। एक दर्शन है साधना के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करना और दूसरा दर्शन है साधना के द्वारा समाधि में प्रविष्ट हो जाना। प्रथम दर्शन का प्रतिनिधित्व इन्द्र करता है और दूसरे दर्शन का प्रतिनिधित्व नारद करते हैं। समाधि में बैठे हुए नारद को देख इन्द्र को लगा कि कहीं वे हमारे स्वर्ग को पाने के लिए ही तो साधना नहीं कर रहे हैं! सत्कर्म और पुण्य करनेवालों की यही समस्या होती है। भोगवादी व्यक्ति, वह कितना भी अच्छा क्यों न हो, अपने भोग में बँटवारा नहीं चाहता। इन्द्र को यही लगता है कि नारद कहीं मेरे स्वर्ग पर अधिकार न कर लें। इसलिए वह काम को नारद पर आक्रमण करने के लिए भेजता है।

इस प्रकार काम के दो रूप हैं। एक वह, जो मेघनाद के रूप में लंका में है और जिसे रावण लक्ष्मण से लड़ने के लिए प्रेरित करता है तथा दूसरा वह है, जो इन्द्र से प्रेरित होकर नारद पर आक्रमण करता है। मानस-रोग के सन्दर्भ में भी काम के ये दो रूप हमें प्राप्त होते हैं। एक रूप वह है, जो राक्षसों के द्वारा संचालित होता है और दूसरा वह, जो देवताओं के द्वारा। अब यह बात तो समझ में आती है कि मोहरूपी राक्षस काम को प्रेरित करे, पर यह बात बड़ी अटपटी मालूम होती है कि पुण्य-रूप देवता काम के प्रेरक बनें। इसका अभिप्राय यही है कि सद्गुणों के द्वारा भी कभी-कभी व्यक्ति के जीवन में दुर्गुणों का आगमन होता दिखायी देता है। यदि सद्गुणों का उद्देश्य भोग और सम्मान प्राप्त करना ही हो, तब तो ये सद्गुण मनुष्य के जीवन में ईर्ष्या ही उत्पन्न करेंगे। तभी तो जब गोस्वामीजी से कहा गया कि महाराज, स्वर्ग तो बड़ी अच्छी जगह है, जहाँ मृत्युलोक के रोगों से पीछा छूट जाता है और सब कुछ सुख ही सुख है, तब गोस्वामीजी बोले कि भई, भले ही स्वर्ग में अन्य सब रोगों से पीछा छूट जाए, पर वहाँ एक बड़ा जबरदस्त रोग है और वह है––'स्वर्गहु मिटत न सावत'––स्वर्ग में सौतिया डाह नहीं मिटती। यह एक मनोवैज्ञानिक बात है। सद्गुण-सम्पन्न लोग परस्पर बड़े ईर्ष्यालु होते हैं। यही जीवन का, समाज का सत्य है तथा पुराणों का भी। हर सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति अपने को अधिक से अधिक भोगों के साथ युक्त करना चाहता है। स्वर्ग में बैठे हुए देवता सुखी थोड़े ही रहते हैं। यह तो स्वर्ग का नियम है कि जिसने जितना पुण्य किया है, उसे उतना ही भोग

मिलेगा। अब जब देवता अपने बगलवाले देवता के पास अधिक भोग देखता है, तो उसके मन में भारी ईर्ष्या उत्पन्न होती है और यह ईर्ष्या उसके लिए एक संकट खड़ा कर देती है। वह संकट क्या है ?——यह कि यदि ईर्ष्या इस संसार में रहनेवाले व्यक्ति के मन में उत्पन्न हो, तो वह प्रयत्न करके आगे बढ़ने की चेष्टा कर सकता है, पर स्वर्ग में तो आगे बढ़ने की कोई सम्भावना नहीं। वहाँ ऐसा कोई उपाय नहीं, जिससे ईर्ष्या करनेवाला व्यक्ति होड़ लगा सके। जब इन्द्र के सामने यह चिन्ता आयी कि नारद तपस्या में मग्न हैं, तो वह एक उपाय यह कर सकता था कि वह भी तपस्या में लग जाता। पर वह तो भ्रान्ति-वश यह सोचता है कि नारद भी मेरी तरह भोगों को पाना चाहते हैं। तो, ईर्ष्या का एक रूप यह भी हो सकता था कि इन्द्र नारद की भाँति समाधि में जाने की चेष्टा करता और समाधि की और भी गहराई में उतरकर नारद को परास्त करने की सोचता। लेकिन इन्द्र ने देखा कि ऐसा करना उसके लिए सम्भव न हो पाएगा और इसलिए वह ईर्ष्यालु बन गया। ईर्ष्यालु व्यक्ति पहले यह सोचता है कि हम तेज दौड़ें और उस आगे जानेवाले व्यक्ति को हरा दें। पर जब वह देखता है कि दौड़कर उससे आगे निकलना सम्भव नहीं है, तब वह सोचता है कि उसकी टाँग पकड़कर खींच लें, जिससे कम से कम वह आगे तो न बढ़ सके। इसीलिए इन्द्र निर्णय करता है कि हम काम के माध्यम से नारद को गिराने की चेष्टा करेंगे। तब सत्कर्म-प्रेरित, सद्गुण-प्रेरित, स्वर्ग और पुण्य-प्रेरित काम सन्त नारद पर आक्रमण करने चल पड़ता है। यह बड़ी विचित्र बात है। नरक की सब कोई निन्दा करते हैं,

क्योंकि वहाँ दुःख, पाप और दोष निवास करते हैं, पर 'रामचरितमानस' तो स्वर्ग की भी निन्दा करता है। भगवान् राम कहते हैं–

एहि तन कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ।।७/४३/१

––स्वर्ग भी अन्त में दुखदाई है।

तो, स्वर्ग की, इन्द्र की प्रेरणा से काम नारद को नीचे गिराने के लिए निकल पड़ता है और अप्सराओं के साथ वहाँ जाकर उन पर प्रभाव डालने की चेष्टा करता है। पर नारद समाधि की ऐसी उच्च स्थिति में थे कि––

काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी। १/१२५/७

और तब ?–––

निज भयँ डरेउ मनोभव पापी। १/१२५/७

जब नारद पर काम का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तो काम डर के मारे काँपने लगा। यदि नारद गिर पड़ते, तब तो उसे बड़ा आनन्द आता। जैसे आप किसी के पैर पकड़कर खींचने की चेष्टा करें। यदि वह गिर जाता है, तो आपका लक्ष्य पूरा हो जाता है। पर यदि आप उस गिरा न पाएँ, तब तो वह आपसे बदला लेने की कोशिश करेगा। काम को भी प्रतीत होता है कि अब नारद मुझ पर रुष्ट हो जाएँगे और मुझे श्राप देंगे। इसीलिए वह––

सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन।
गहेसि जाइ मुनि चरन तब कहि सुठि आरत बैन ।।१/१२६

––अपने सहायकों समेत दीन वचन कहते हुए मुनि के चरणों को जा पकड़ता है तथा गिड़गिड़ाते हुए कहता है कि महाराज, मैं अपनी इच्छा से यहाँ नहीं आया। इन्द्र को भय हो गया था कि आप स्वर्ग पर अधिकार प्राप्त

करना चाहते हैं, इसलिए उन्होंने मुझे आज्ञा दी थी, मुझे क्षमा करें। यह सुन--

भयउ न नारद मन कछु रोषा।
कहि प्रिय बचन काम परितोषा ।। १।१२६।१

--नारद ने काम से कहा कि मुझे तुम्हारे ऊपर कोई रोष नहीं है, तुम जाकर इन्द्र से कह देना कि मुझे स्वर्ग की कोई आकांक्षा नहीं है। काम समझ गया कि नारद तो काम, क्रोध, लोभ तीनों के विजेता हैं। नारद की काम और क्रोध पर विजय तो उसने देख ही ली थी, अब उसने यह भी देख लिया कि मुनि लोभ के भी विजेता हैं, क्योंकि उनके मन में स्वर्ग का भी लोभ नहीं है। काम स्वर्ग लौटकर सबको नारद की विजय की गाथा सुनाता है और सुननेवाले सब लोग उस विजय को सही रूप में ग्रहण करते हैं। पर नारद के जीवन का दुर्भाग्य था कि जिस घटना का अर्थ इन्द्र, सारे देवता और काम सही रूप में ले पाये, नारद स्वयं उस घटना को सही अर्थ में नहीं ले सके। गोस्वामीजी लिखते हैं--

मुनि सुसीलता आपनि करनी।
सुरपति सभाँ जाइ सब बरनी।।
सुनि सब कें मन अचरजु आवा।
मुनिहि प्रसंसि हरिहि सिरु नावा ।। १।१२६।३-४

--काम ने देवराज इन्द्र की सभा में जाकर मुनि की सुशीलता और अपनी करतूत सब कही, जिसे सुनकर सबके मन में आश्चर्य हुआ। ऐसा महापुरुष, जो काम, क्रोध, लोभ तीनों को जीत ले, सचमुच धन्य है। सब लोग नारदजी की प्रशंसा करने लगे, पर साथ ही उन्होंने भगवान् के चरणों में सिर नवाया। यह बहुत बड़ा मंत्र

है। प्रशंसा भले ही किसी व्यक्ति की जाय, पर नमन तो वस्तुतः भगवान् को करना चाहिए, जिन्होंने व्यक्ति को ऐसी क्षमता दी, ऐसे गुणों से युक्त किया कि वह उस क्षमता और उन गुणों का सदुपयोग करके इतना महान बन जाता है। जिसने भी नारद की काम-विजय की गाथा सुनी, उसी ने कहा कि नारद पर भगवान् की कितनी कृपा है कि इतने दुर्गुण-दुर्विचारों के बीच भी नारद सुरक्षित बने रहे। पर नारद का दुर्भाग्य यह रहा कि वे अपनी इस विजय को सही अर्थों में न ले सके। वे भगवान् की कृपा से समाधि में लीन होकर अन्तःकरण की चित्त-गुफा में प्रविष्ट हो चुके थे, पर समाधि से व्युत्थित होकर वे अन्तःकरण की अहंकार गुफा में चले गये। यही नारद के जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य था।

अन्तःकरण की चार गुफाएँ हैं——चित्त की, मन की, बुद्धि की और अहंकार की। किष्किन्धाकाण्ड में हमें इसका संकेत मिलता है। आप थोड़ी गहराई से पढ़ने पर यह समझ सकेंगे। किष्किन्धाकाण्ड वस्तुतः गुफाओं का काण्ड है। उसमें सीताजी की खोज चल रही है। सीताजी हैं साक्षात् शान्तिस्वरूपा——'शान्तिसीता समानीता आत्मा रामो विराजते।' तो, वहाँ शान्ति की खोज चल रही है। वहाँ चार गुफाएँ हैं, जिनमें से एक में भगवान् राम और लक्ष्मण रहते हैं। यह रामायण की सांकेतिक शैली है। चित्रकूट में तो भगवान् राम कुटिया में रहते हैं, दण्डकारण्य में भी वे कुटिया में ही निवास करते हैं, पर जब किष्किन्धाकाण्ड में उनके रुकने का प्रश्न आया, तो कहा गया कि वे प्रवर्षण पर्वत पर किसी कुटिया में नहीं अपितु एक गुफा में रहते थे। उस गुफा

के बारे में गोस्वामीजी लिखते हैं--

प्रथमहिं देवन्ह गिरि गुहा राखेउ रुचिर बनाइ ।
राम कृपानिधि कछु दिन बास करहिंगे आइ ।।४।१२

--देवताओं ने पहले से ही उस पर्वत की एक गुफा को सुन्दर सजाकर रखा था । तो, वह केवल किष्किन्धाकाण्ड की ही गुफा नहीं है बल्कि हम सबके अन्तःकरण की भी गुफा है, जिसमें साक्षात् भगवान् का निवास है । यदि व्यक्ति इस गुफा में प्रविष्ट होगा, तो वह भगवान् राम के दर्शन करेगा । यह चित्त की गुफा है ।

दूसरी गुफा है स्वयंप्रभा की । यह मन की गुफा है । जब बन्दर सीताजी की खोज में चलते हैं और वन में मार्ग भटककर प्यास के मारे छटपटाने लगते हैं, तब हनुमान्जी बन्दरों को सलाह देते हैं कि यदि नीचे जल नहीं मिल रहा है तो चलो ऊपर चलकर जल खोजने की चेष्टा करें । पर बन्दर इतने थके हुए हैं कि वे कहते हैं--नहीं, महाराज ! ऊपर चढ़ने का साहस हममें नहीं है, आप ही जरा चढ़कर देख आइए । तब हनुमान्जी ऊपर चढ़ जाते हैं और वहाँ एक गुफा को देख नीचे उतर आते हैं तथा बन्दरों को ऊपर ले जाकर वह गुफा दिखाते हैं--

सब कहुँ लै सोइ बिबर देखावा । ४।२३।७

और साथ ही यह भी दिखाते हैं कि उसके ऊपर चकवे, बगुले और हंस उड रहे हैं तथा बहुत से पक्षी उसके भीतर जा रहे हैं-

चक्रवाक बक हंस उड़ाहीं ।
बहुतक खग प्रबिसहि तेहि माहीं ।। ४।२३।६

बन्दर हनुमान्जी से कहते हैं कि कहाँ, जल तो नहीं दिखायी दे रहा है । इस पर हनुमान्जी कहते हैं कि भले ही जल न दिखायी दे रहा हो, पर जल के पक्षी तो दिखायी दे रहे

हैं। पक्षियों को देखकर प्रत्यक्ष-प्रमाण न सही, पर अनु-मान-प्रमाण से कल्पना कर लो कि भीतर जल होगा। अतः चलो भीतर चलें।

गोस्वामीजी यहाँ पर सांकेतिक भाषा का प्रयोग करते हैं। अंगद ही सारे बन्दरों के नेता, मुखिया थे। वे अब तक आगे-आगे चल रहे थे। पर जब हनुमान्‌जी ने अंगद से कहा कि आप सारे बन्दरों को लेकर गुफा में चलिए, तो अंगद ने उसे स्वीकार नहीं किया। कारण यह था कि उनके मन में गुफा को लेकर एक आतंक पैठ गया था। ऐसी ही एक गुफा में बालि पैठा था और तब चाचा एवं पिता में झगड़ा हो गया था। फिर बालि का वध भी इसी गुफा के कारण हुआ था। अंगद के अन्तर्मन में छिपा गुफा का यह आतंक आज यहाँ पर प्रकट हो जाता है। वे हनुमान्‌जी से कहते हैं कि महाराज, मेरे पिताजी बिना सोचे-समझे गुफा में पैठ गये और सर्वनाश हो गया। अतः मैं तो नहीं पैठूँगा। इस पर हनुमान्‌जी मुसकराकर बोले——भाई, तुम्हारे पिता जिस गुफा में पैठे थे, वह गुफा ऐसी थी, जिसमें उन्हें नहीं पैठना चाहिए था। पर यहाँ जिस गुफा में चलना है, उसमें तो अवश्य पैठना चाहिए। फिर भी अंगद को साहस नहीं हुआ। अतएव हनुमान्‌जी ने बन्दरों का नेतृत्व किया——

आगें कै हनुमंतहि कीन्हा।
पैठे बिबर बिलंबु न कीन्हा।। ४।२३।८

——और वे सब गुफा में प्रविष्ट होते हैं। वहाँ स्वयंप्रभा रहती है। पहली गुफा चित्त की गुफा है, जहाँ साक्षात् ईश्वर का निवास है। जब व्यक्ति चित्तवृत्तियों का निरोध करते हुए योग साधता है, तब वह चित्त की गुफा में पैठता

है और वहाँ ईश्वर का साक्षात्कार करता है। यह दूसरी गुफा, जिसमें स्वयंप्रभा रहती है, मन की गुफा है। यह भगवान् की कृपा की गुफा है। यहाँ स्वयंप्रभा थके हुए बन्दरों को जल पीने और फल खाने के लिए कहती है और सीताजी को खोजने का उपाय बताती है। इस गुफा में ईश्वर के कृपा-रस की अनुभूति होती है। जब साधक पुरुषार्थ करते-करते, साधन करते-करते थक जाता है, तब मन की इस गुफा में स्वयंप्रभा के द्वारा सन्देशा पाकर उसका उत्साह पुनः लौटता है। यह स्वयंप्रभा साक्षात् कृपारूपा है। वह बन्दरों से पूछती है––"तुम लोग उदास क्यों हो?" बन्दर बोले––"हम सीताजी को खोजने निकले थे, पर उनका पता नहीं लगा।" स्वयप्रभा ने पूछा––"अच्छा, सीताजी को तुम लोगों ने कैसे ढूँढ़ा?–– आँखें बन्द करके या आँखें खोलकर?" बन्दरों ने कहा–– "देवी, हम लोगों ने तो एक महीने तक आँखें ही बन्द नहीं कीं।" तब स्वयंप्रभा बोली––"यदि तुम सीताजी को खोजना चाहते हो, तो हमारी बात मानो, अब तुम जरा आँखें बन्द कर उन्हें खोजो।"––

मूदहु नयन बिबर तजि जाहू।
पैहहु सीतहि जनि पछिताहू॥ ४।२४।५

तो, इस प्रकार बन्दरों को स्वयंप्रभा से नेत्र मूँदने का, कृपा का, विश्वास का, समर्पण का सन्देश प्राप्त होता है। बन्दरों ने नेत्र मूँद लिये, और जब उन्होंने आँखें खोलीं तो देखा कि वे समुद्र के किनारे पहुँच गये हैं। वे आपस में कहने लगे कि नेत्र मूँदने से तो कोई लाभ नहीं हुआ। स्वयंप्रभा ने तो कहा था कि नेत्र मूँदो, तुम्हें सीता-जी अवश्य मिलेंगी, पर कहाँ, हम लोग तो इस सागर के

तीर पर आ गये! उन्हें स्वयंप्रभा के सन्देश पर सन्देह होने लगता है। हमारे जीवन में भी बहुधा ऐसा होता है। हम किसी महात्मा के पास जाकर शान्ति का उपाय पूछते हैं। महात्माजी कहते हैं कि आँख मूँदकर ध्यान किया करो, शान्ति मिलेगी। हम दस-पाँच दिन आँख मूँदकर ध्यान करते हैं, पर जब शान्ति कहीं मिलती दिखायी नहीं देती, तो हमें महात्माजी के सन्देश पर सन्देह होने लगता है कि उनकी बतायी पद्धति ठीक है भी या नहीं। बन्दरों के साथ ठीक ऐसा ही हुआ। उन्हें नेत्र मूँदने में कोई लाभ नहीं दिखायी देता।

अब, ये दो पद्धतियाँ हैं--नेत्र मूँदना और नेत्र खोलना। प्रश्न यह है कि इनमें कौनसी पद्धति सही है? नेत्र मूँदने का अर्थ है विश्वास और नेत्र खोलने का तात्पर्य है विवेक। प्रश्न उठता है कि जीवन में विश्वास की आवश्यकता है या विवेक की? इसका उत्तर यह है कि दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं।

जब बन्दर स्वयंप्रभा की गुफा में जा आँख मूँदते हैं और आँख खोलने पर अपने को समुद्र के तीर पर पाते हैं, तब वे निराश-से हो जाते हैं और सोचते हैं कि जब हम शान्तिरूपिणी सीताजी का पता नहीं लगा, तो हमारे लिए शरीर का त्याग कर देना ही उचित होगा। ऐसे समय गोस्वामीजी एक तीसरी गुफा का संकेत देते हैं। वे लिखते हैं कि समुद्र के पास भी पहाड़ियाँ थीं और उनमें एक गुफा थी। उस गुफा में एक गीध बैठा हुआ था। वह महान् ज्ञानी था। नाम था सम्पाती। उसने जब बन्दरों की बात सुनी, तो वह बाहर आकर जो कहता है, उसे सुन बन्दरों के प्राण सूख जाते हैं। वे सोचते हैं कि

जब सीताजी नहीं मिलीं, तब पीछे लौटने का मार्ग भी तो बन्द हो गया है, क्योंकि सुग्रीव ने कह दिया था कि यदि तुम एक महीने के भीतर सीताजी का पता न लाओ, तो तुम्हें मृत्युदण्ड मिलेगा। और एक माह की यह अवधि बीत चुकी थी।

यही साधक की समस्या है। न तो उसे पीछे लौटते बनता है, न ही आगे उसका उद्देश्य पूरा होता है। साधना-काल में कभी-कभी ऐसा अवसाद, ऐसी निराशा उत्पन्न हो जाती है, जब पीछे लौटने का मार्ग भी बन्द हो जाता है और इस मार्ग का बन्द होना आवश्यक भी है। कबीरदास यही कहा करते थे। उनका एक व्यंग्यात्मक दोहा आता है। वे हाथ में मशाल लिये खड़े थे। लोगों ने कहा—हम भी आपके साथ यात्रा करेंगे। कबीर बोले—ठीक है, चलो। लोगों ने पूछा—आप जो मशाल लिये चल रहे हैं, तो क्या इसलिए कि रास्ते में अँधेरा है? उन्होंने कहा—यह मशाल अँधेरे के लिए नहीं है, बल्कि इसलिए है कि मेरे साथ चलनेवाले लोग इसका प्रयोग कर लें—

> कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
> जो घर फूँकै आपना चलै हमारे साथ॥

—जो हमारे साथ चलना चाहते हैं, वे पहले अपना घर फूँक दें और तब हमारे साथ चलें। इसका अभिप्राय क्या?—यह कि यदि मेरे साथ चलोगे और घर बचा रहेगा, तो तुम बीच मार्ग से ही घर लौट जाने की सोचोगे। इसलिए जब घर ही जल जायगा, तो यही सोचोगे कि अब आगे बढ़ने के सिवा पीछे लौटकर क्या करेंगे? पीछे लौटने का मार्ग बन्द हो जाने से साधक के पास आगे बढ़ने

के सिवा और कोई चारा नहीं रह जाता।

इन बन्दरों का भी पीछे लौटने का मार्ग बन्द हो चुका था, क्योंकि सुग्रीव के द्वारा दी गयी एक महीने की अवधि बीत चुकी थी। इधर सामने समुद्र लहरा रहा था और सीताजी कहीं दिखायी नहीं दे रही थीं। बन्दरों ने निश्चय किया कि अनशन करके प्राण दे देंगे और वे समुद्र के किनारे अनशन करते हुए बैठ गये। ऐसे समय पास की एक गुफा से आवाज आयी——

आजु सबहि कहँ भच्छन करऊँ।
दिन बहु चले अहार बिनु मरऊँ ॥
कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा।
आजु दीन्ह बिधि एकहिं बारा ॥ ४।२६।३-४

——अरे, यह तो बड़ा अच्छा हुआ, जो इतने बन्दर अनशन करके प्राण दे देंगे। जगदीश्वर ने मुझको घर बैठे बहुत-सा आहार भेज दिया। आज इन सबको खा जाऊँगा। बहुत दिन बीत गये, भोजन के बिना मर रहा था। पेट भर भोजन कभी नहीं मिलता। आज विधाता ने एक ही बार में बहुत-सा भोजन दे दिया!

गीध के ये वचन सुनते ही बन्दर आतंक के मारे घबरा गये। वे बेचारे प्राण तो देना चाहते थे, पर आत्म-हत्या करनेवाला भी यह सोचता है कि प्राण सुख से दें! फिर व्यक्ति को कभी-कभी यह चिन्ता भी तो रहती है कि मरने के बाद मेरे शरीर की दुर्गति न हो। तो, बन्दर जब यह सुनते हैं कि गीध हम लोगों के शरीर को खा लेगा, तो वे बड़े निराश हो जाते हैं। उन्हें विषाद होता है कि हम लक्ष्य तो बहुत बड़ा लेकर चले थे, पर आज नौबत ऐसी आ गयी है कि लक्ष्य को पाये बिना ही हमें प्राणों का

त्याग करना पड़ रहा है और हमारा शरीर एक गीध का भक्ष्य बनने जा रहा है। बन्दरों को हताशा और अवसाद घेर लेता है। तब अंगद उनकी रक्षा के लिए सामने आते हैं। स्वयंप्रभा की गुफा में हनुमान्‌जी वानरों की रक्षा के लिए आगे आये थे, पर सम्पाती की इस गुफा में अंगद की भूमिका प्रधान है। यह किष्किन्धाकाण्ड की तीसरी गुफा है। यहाँ पर अंगद की प्रधानता का कारण यह था कि हनुमान्‌जी स्वयंप्रभा के सन्देश को सही अर्थों में समझकर अन्तर्हृदय की गुफा में भगवान् के कृपा-रस की अनुभूति में डूबे हुए थे। स्वयंप्रभा ने कहा था—"मूदहु नयन"। उसका अर्थ मात्र नेत्रों का मूँदना नहीं है। जैसे कोई कहे कि भई, आँधी आ रही है, दरवाजा बन्द कर लो। इसका अर्थ यदि कोई यह लगाए कि केवल दरवाजा बन्द कर लो और खिड़कियाँ खुली रखो, तब तो यह नासमझी की पराकाष्ठा है। 'दरवाजा बन्द कर लो' कहने का मतलब दरवाजा बन्द करना तो है ही, साथ ही खिड़-कियाँ भी बन्द करना है। दरवाजे से अधिक धूल आने की सम्भावना है इसलिए दरवाजा बन्द कर लो, पर खिड़कियों से भी तो धूल आ सकती है, अतएव खिड़कियाँ भी बन्द कर लो। तो, स्वयंप्रभा के कथन में यह संकेत निहित था कि समस्त ज्ञानेन्द्रियों को मूँदकर पूरी तरह से अन्तर्मुख हो जाओ। लेकिन बन्दरों ने आँख मूँदने का अर्थ केवल आँख मूँदना लिया। हनुमान्‌जी ने तो आँखों को भी मूँद लिया और कान भी बन्द कर लिये और भीतर भगवान् के ध्यान में डूब गये। इसीलिए इस प्रसंग म हनुमान्‌जी की कोई भूमिका नहीं है। पर अंगद के नेत्र खुले हुए थे, वे हनुमान्‌जी के समान भीतर डूबे हुए नहीं

थे। इसलिए वे यहाँ पर सामने आते हैं और गीध की बात सुनकर, सोच-विचार कर कहते हैं--

कह अंगद बिचारि मन माहीं।
धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।। ४।२६।७

--अहा! जटायु के समान धन्य कोई नहीं है। अपने इस कथन के माध्यम से अंगद गीध और बन्दर दोनों को अलग-अलग संकेत देते हैं। गीध को यह संकेत कि तुम्हारी जाति का एक गीध वह था, जिसने सीताजी की रक्षा के लिए प्राण दे दिये, और एक गीध तुम हो जो सीताजी के खोजनेवालों को ही खाना चाहते हो। ऐसा लगता है कि तुम्हें अपने जाति-बन्धुओं से कोई प्रेरणा नहीं मिली। अपने साथियों के लिए उनका संकेत यह था कि यदि एक गीध सीताजी की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाकर सद्गति और भगवान् की कृपा का अधिकारी होता है, तब हमें भी प्रभु अवश्य स्वीकार करेंगे। भले ही जटायु सीताजी की रक्षा नहीं कर पाया, पर एक पवित्र उद्देश्य के लिए प्राणों का होम कर देने के कारण भगवान् ने स्वय आकर उन्हें अपनी गोद में उठा लिया। इसी प्रकार अंगद का तात्पर्य यह था कि भले ही हम सीताजी को न पा सकें और उनको पाने की चेष्टा में हमारे प्राण चले जाएँ, पर हमें यह विश्वास रखना चाहिए कि जीते-जी न सही, मृत्यु के बाद तो भगवान् हम लोगों को स्वीकार करेंगे ही। हमारा यह प्रयास व्यर्थ नहीं होगा।

जब सम्पाती ने अंगद के मुख से जटायु का नाम सुना, तो वह वानरों के पास आ गया और बोला--तुम लोग डरो मत। इसके पश्चात् सम्पाती और वानरों का संवाद होता है। सम्पाती बन्दरों से कहता है--वह देखो,

लंका में अशोकवाटिका है और वहाँ सीताजी बैठी हुई हैं। तुम नहीं देख पाओगे, मैं देख पा रहा हूँ, क्योंकि गीध की दृष्टि अपार होती है। तो, गीध आँख खोलकर देखने का संकेत देता है। स्वयंप्रभा ने आँख मूँदने का संकेत दिया था। सम्पाती की यह गुफा बुद्धि की गुफा है, देहाभिमान से ऊपर उठने की गुफा है। गोस्वामीजी लिखते हैं कि सम्पाती वानरों से कह रहा है——मैं पहले बड़ा अभिमानी था, पर चन्द्रमा मुनि ने दया करके मुझे ज्ञान दिया और मेरा देहाभिमान छुड़ा दिया——'देहजनित अभिमान छड़ावा' (४/२७/६)। यही तीसरी गुफा है।

अभिप्राय यह है कि जब हम शान्ति की, भक्ति की खोज में लगे हुए हों, तो अपने मन की गुफा में प्रविष्ट हो, स्वयंप्रभा के द्वारा कृपा का जल पीकर जीवन में धन्यता का अनुभव करें या फिर गीध की, बुद्धि की गुफा में पैठकर विचार के द्वारा, सम्पाती के संकेत के माध्यम से, देहाभिमान से ऊपर उठकर शान्ति पाने की, भक्ति लाभ करने की चेष्टा करें।

चौथी गुफा है बालि की। यह अहंकार की गुफा है। नारदजी पहले तो चित्त की गुफा में पैठे थे और तब उन्हें समाधि लग गयी थी——

सहज बिमल मन लागि समाधी। १/१२४/४

फिर, नारदजी के मन में समाधि में जाने की इच्छा भी एक गुफा को देखकर ही आयी थी——

हिमगिरि गुहा एक अति पावनि। १/१२४/१

जब तक वे चित्त की गुफा में पैठे रहे, तब तक समाधि में लीन रहे। पर उसके बाद जब वे काम पर विजय प्राप्त करते हैं, तब एकदम चौथी गुफा में जाकर पैठ जाते हैं——

चित्त की गुफा से निकलकर अहंकार की गुफा में चले जाते हैं। बालि ने भी उसी गुफा में पैठने की भूल की। वह प्रसंग तो बड़ा विस्तृत है, हम केवल सूत्र के रूप में उसे यहाँ आपके सामने रख रहे हैं।

एक दिन सुग्रीव ने भगवान् राम को अपना संस्मरण सुनाते हुए कहा कि बालि के जीवन में सर्वनाश लाने-वाली यही गुफा है। पढ़कर बड़ा अटपटा लगता है कि ऐसे अपराजेय योद्धा का सर्वनाश एक गुफा कर दे। आप जानते हैं कि बालि रावण को पराजित कर चुका है। उसने दुन्दुभि को भी हरा दिया। एक और दैत्य था, जिसके मन में वालि से लड़ने की इच्छा आयी। उसका नाम था मायावी। उसने सोचा कि हम लड़कर तो बालि को नहीं हरा सकते, पर यदि मैं आधी रात को बालि को चुनौती दूँ, तो चूँकि बन्दर रात्रि के समय बाहर नहीं निकलते हैं, बालि भी डर के मारे अँधेरे में नहीं निकलेगा, और इस प्रकार मैं लौटकर घोषणा कर दूँगा कि बालि ने मेरी चुनौती स्वीकार नहीं की, इसलिए मैं विजेता हूँ। मायावी को लगता है कि इस प्रकार मैं रावण और दुन्दुभि को हरानेवाले का विजेता बन जाऊँगा।

यह सोच मायावी अर्धरात्रि को आकर बालि को युद्ध की चुनौती देता है। बालि उसे अस्वीकार नहीं कर पाता। वह तुरन्त घर से निकलकर मायावी का पीछा करता है। मायावी बालि से बचने का कोई उपाय न देख एक गुफा में पैठ जाता है। बालि यदि अँधेरी रात में न निकलता, तो कोई समस्या न आती। निकलने के बाद यदि वह मायावी के पीछे-पीछे अँधेरी गुफा में न पैठता, तब भी कोई समस्या की बात न होती। पर यही बालि

के चरित्र का दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष है। वैसे हम देखें तो बालि सद्-गुण और पुण्य का प्रतीक है; और मायावी कौन है ? 'राम चरितमानस' में उसका परिचय देते हुए कहा गया है--

मय सुत मायावी तेहि नाऊँ।
आवा सो प्रभु हमरें गाऊँ।। ४/५/२

--यह मायावी मयदानव का लड़का है। मयदानव ने ही लंका का निर्माण किया था और उसे सजाया था। अब यह भले ही त्रेतायुग की घटना हो, पर आज भी यह मय और मायावी हमारे जीवन में विद्यमान हैं।

गोस्वामीजी से पूछा गया कि यह मय दैत्य कौन है ? वे 'विनय-पत्रिका' में लिखते हैं--

रचित मन दनुज मय-रूपधारी (५८।२)

--अर्थात् यह मन ही मयदानव है। मायावी उसी मय का बेटा है अर्थात् मन का संकल्प-विकल्प ही मायावी है। मन में उठनेवाला यही संकल्प बालि को चुनौती देता है। अब यह तो आवश्यक नहीं कि साधक बुराई से व्यर्थ भिड़ने की चेष्टा करे। साधक का लक्षण यह नहीं कि वह दुर्गुणों को लड़ने के लिए बाध्य करे। बुद्धिमानी तो इसमें है कि दुर्गुणों से बचा जा सके। दुर्गुणों से दूर रहना ही साधक का कर्तव्य है। लेकिन बालि के मन में तो एक नशा छाया हुआ है कि मैं पाप का, दुर्गुणों का विजेता हूँ। इसीलिए जब मय का बेटा मायावी--मन का संकल्प--उसे चुनौती देता है तो वह उसे स्वीकार कर लेता है और स्वीकार कर लेने के बाद उस पर्वत की गुफा में प्रविष्ट होता है, जिसके सम्बन्ध में 'विनय-पत्रिका' (२०८।३) में गोस्वामीजी कहते हैं--

परम बर्बर खर्ब गर्ब पर्बत चढ़्यो।

——वह गर्व का पर्वत है और उसमें अहंकार की गुफा है। मायावी इस अहंकार की गुफा में पैठ जाता है। बालि का अहंकार इतना बढ़ा हुआ था कि उसने सुग्रीव से कह दिया——मैं पन्द्रह दिन में इसको हरा दूँगा। ऐसा दावा ही साधक के जीवन का दम्भ है। यदि साधक ऐसा मानता है कि उसमें निश्चित ही दुर्गुणों को हराने की क्षमता है और वह इतने दिनों में दुर्गुण-दुर्विचारों को हराकर साधना में सफलता प्राप्त कर लेगा तो यह उसके अहंकार की घोषणा है। बालि ने ऐसी ही घोषणा करने की भूल की। परिणाम यह होता है कि वह घोषणा सुग्रीव के मन में भ्रम की सृष्टि करती है। सुग्रीव के चरित्र का उज्ज्वल पक्ष यह है कि वे अपनी सामर्थ्य की सीमा जानते हैं। यह भक्ति के लिए परम आवश्यक है। सुग्रीव भी तो उस गुफा में पैठ सकते थे। पर वे नहीं पैठते, क्योंकि वे जानते हैं कि वह अहंकार की गुफा है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे पूरे जीवन में कभी अहंकारी नहीं बने। बालि का दुर्भाग्य यह है कि वह बड़ा साहसी होता हुआ भी, दुर्गुण-दुर्विचारों को चुनौती देता हुआ भी अहंकार की अतल गहराइयों में पैठ जाता है और सोचने लगता है कि मैं बुराइयों का विजेता हूँ। परिणाम यह होता है कि दुर्गुणों के विजेता का गर्व ही अन्त में बालि के लिए घातक बन जाता है। बालि के ऊपर भगवान् बाण चलाते हैं।

नारदजी के चरित्र में भी हम देखते हैं कि वे चित्त की गुफा में समाधि-लीन थे। फिर वहाँ से बाहर निकलकर वे काम से वार्तालाप करने लगे। काम ने उनके चरणों में प्रणाम कर उनसे क्षमा माँगी और स्वर्ग वापस लौटकर उसने नारद का गुणगान किया। पर इधर हम देखते हैं

कि नारदजी चित्त की गुफा से निकलकर अहंकार की गुफा में पैठ जाते हैं, जिसमें बालि पैठ गया था। नारद ने भी अपने मन में विजेता का गर्व पाल लिया। वे सोचने लगे कि जैसी सफलता मैंने प्राप्त की, वैसी और किसी ने नहीं की है। गोस्वामीजी इस प्रसंग को 'नारद-मोह' के नाम से पुकारते हैं। कारण यह कि नारद से बढ़कर कौन जानता है कि अहंकार सबसे घातक है? वे स्वयं भक्ति के आचार्य हैं, इसलिए अहंकार की बुराई से सबसे अधिक परिचित हैं। फिर भी उनके मन में यह भाव उठता है कि इतना बड़ा कार्य मुझसे पहले और किसी ने नहीं किया। यही मोह है।

और जब उन्होंने अनुभव किया कि मैंने काम को जीतकर सबसे बड़ी सफलता प्राप्त की है, तो उनके मन में पहला विचार यह आया कि चलें, अपनी विजय की बात जरा दूसरों को भी सुनाएँ और उसका आनन्द लें। जरा दूसरे भी तो जानें कि हमें कितनी बड़ी सफलता मिली है। ऐसी प्रवृत्ति अहंकारी के मन में ही आती है। वैसे तो काम ही नारद का विज्ञापन कर रहा था, फिर देवता भी कर रहे थे, पर नारद आत्म-विज्ञापन के लिए स्वयं व्यग्र हो उठते हैं। वे निर्णय करते हैं कि पहले शंकरजी को ही यह सुनाया जाए। नारदजी को लगा कि शंकरजी भी काम के विजेता माने जाते हैं और मैंने भी काम को जीता है। तो जरा देखें, मेरी विजय की बात सुनकर शंकरजी को कैसा लगता है--वे प्रसन्न होते हैं या ईर्ष्या के शिकार?

बस, यहीं से मानस-रोग की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। यदि कोई गंगा में स्नान करने के पश्चात् गन्दे

नाले में उतरेगा, तो क्या नाले की गन्दगी उसे दूषित नहीं कर देगी ? नारदजी के साथ ऐसा ही हुआ । समाधि से, सत्कर्म और पुण्य से उतरकर वे अहंकार की गन्दगी में चले गये । जब वे शंकरजी के पास पहुँचकर अपनी विजय-गाथा सुनाने लगे कि कैसे काम ने मुझ पर आक्रमण किया, पर मैं विचलित नहीं हुआ और उसे क्षमा कर दिया, इन्द्र तो व्यर्थ ही डर रहा था, मुझे तो स्वर्ग का कोई लोभ नहीं था, तब यह सब सुनकर शंकरजी मुसकराने लगे । वे तो वैद्य हैं । उन्होंने नारदजी के रोग को पकड़ लिया । जब नारद ने आत्मकथा सुनाकर पूछा कि महाराज, आपको विजय का समाचार कैसा लगा, तो शंकरजी बोले--

बार बार बिनवउँ मुनि तोही ।
जिमि यह कथा सुनायहु मोही ।।
तिमि जनि हरिहि सुनायहु कबहूँ ।
चलेहुँ प्रसंग दुराएहु तबहूँ ।। १।१२६।७-८

--हे मुनि, मैं तुमसे बार-बार विनती करता हूँ कि जिस तरह यह कथा तुमने मुझे सुनायी है, उस तरह भगवान् श्रीहरि को कभी मत सुनाना । चर्चा भी चले तब भी इसको छिपा जाना ।

कथा की इतनी संक्षिप्त और कठोर आलोचना शायद ही कहीं की गयी हो । यदि कथा सुनने के बाद कोई यह कह दे कि फिर किसी को मत सुनाइएगा, तो इसका अर्थ क्या हुआ ?--यही कि कथा किसी काम की नहीं है । शंकरजी ने सीधे नहीं कहा कि कथा अच्छी नहीं है । मित्र थे न ! शत्रु हो तो सीधी आलोचना कर दे, पर मित्रता में तो प्रीति की बात रहती है । शंकरजी ने सोचा यदि मैं नारदजी को सीधे उनकी बुराई बताऊँगा, तो

उन्हें कष्ट हो सकता है, इसलिए बात जरा घुमा-फिराकर कहते हैं। पर वे चाहते हैं कि नारद का रोग मिटे, इसीलिए औषध की व्यवस्था करते हैं। किन्तु हमारे साथ विडम्बना यह है कि हम शरीर के रोग के सन्दर्भ में तो वैद्य की बात मान लेते हैं, लेकिन मन के रोग के सन्दर्भ में वैद्य की बात पर विश्वास नहीं होता। नारदजी के साथ ऐसा ही हुआ। उन्हें शंकरजी की बात नहीं सुहायी।

शंकरजी के कथन को आध्यात्मिक दृष्टि से भी देखा जा सकता है। शंकरजी समष्टि अहंकार के देवता हैं——
अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान। ६।१५(क)
तात्पर्य यह कि नारदजी अपना क्षुद्र अहंकार लेकर समष्टि अहंकार को दिखाने पहुँच गये। यह वैसा ही है, जैसे कोई अँगूठी लेकर सुमेरु पर्वत को दिखाने पहुँच जाए। कहाँ सोने का पर्वत और कहाँ अँगूठी का सोना! सुमेरु पर्वत उस अँगूटी को देखकर भला क्या प्रभावित होगा? तभी तो नारद की काम-विजय-गाथा सुनकर भगवान् शंकर बोले——'तिमि जनि हरिहि सुनायहु कबहूँ।' तात्पर्य यह कि मुनिजी, जैसे आप अहंकार की मलिनता लेकर यहाँ चले आये, वैसे यह गन्दगी लेकर क्षीरसागर न चले जाइएगा। भगवान् विष्णु चित्त के देवता हैं। शंकरजी का तात्पर्य यह था कि जो बात अभी नारद के अहंकार में है, वह कहीं चित्त में न पैठ जाय, क्योंकि वैसा होने से तो अनर्थ हो जायगा। पर नारद वही भूल करते हैं। वे शंकर-जी से कहते तो हैं कि लीजिए, जब आप कहते हैं कि मैं भगवान् विष्णु को न सुनाऊँ, तो मैं उनके पास जाऊँगा ही नहीं, लेकिन नारद भगवान् विष्णु के पास जाये बिना नहीं रह पाते। पर हाँ, कुछ विलम्ब करके जाते हैं। उनके

इस विलम्ब से जाने के पीछे भी दो कारण थे। एक ओर तो वे भगवान् शंकर को दिखाना चाहते थे कि लीजिए, हमने आपकी बात रख ली और दूसरी ओर उनके मन में यह भाव था कि विष्णु भगवान् यह पूछे बिना नहीं रहेंगे कि देर से क्यों आये, तब हमें सुनाने का अवसर मिल जायगा। लोग आत्मश्लाघा के लिए अवसर ढूँढ़ते ही रहते हैं न! अन्ततः परिणाम क्या हुआ?——वही जो नारद ने सोच रखा था। उन्हें देख भगवान् विष्णु ने उठकर उनका स्वागत किया और जो नारद चाहते थे वही पूछा। कहा——'बहुते दिनन कीन्हि मुनि दाया' (१।१२७।६)——क्या बात है, मुनिजी! आज आपने बहुत दिनों बाद दया की? और तब——

काम चरित नारद सब भाषे।
जद्यपि प्रथम बरजि सिवँ राखे।। १।१२७।७

——यद्यपि शिवजी ने पहले से ही बरज रखा था, नारदजी भगवान् को सुनाने लगे कि कैसे काम ने उन पर आक्रमण किया और उन्होंने उसे क्षमा कर दिया। वे बताने लगे कि मुझे तो स्वर्ग का भी लोभ नहीं है। बस, इन्हीं सब पचड़ों के कारण आपके दर्शन करने आने में विलम्ब हो गया।

सुनते ही भगवान् बोले——

ब्रह्मचरज ब्रत रत मतिधीरा।
तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा।। १/१२८/२

——मुनिजी, आप तो ब्रह्मचारी हैं, बड़े भारी योगी हैं, आपकी बुद्धि स्थिर है, फिर काम आपको कैसे सता सकता है? भगवान् की बात सुन नारदजी बैठे-बैठे शकर और विष्णु की तुलना करने लगे। सोचने लगे कि विष्णु भगवान् शंकरजी की तरह ईर्ष्यालु नहीं हैं। शंकरजी ने तो मेरी

बात सुन एक बार भी प्रशंसा नहीं की और भगवान् विष्णु को देखो, वे मेरी प्रशंसा किये जा रहे हैं। पर नारद यह न समझ पाये कि विष्णु की प्रशंसा शंकर की उपेक्षा की अपेक्षा कहीं अधिक घातक थी, क्योंकि अपनी प्रशंसा सुनकर उनकी दृष्टि अपने दोषों की ओर से एकदम हट गयी। वास्तव में नारद को अपने दोष का पता चला शंकरजी के गणों के द्वारा। शंकरजी के दिखलाने पर भी नारद अपने दोष नहीं देख पाये और भगवान् विष्णु की व्यंग्यात्मक भाषा समझ नहीं पाये। तब नारद को उनके दोष दिखाने का भार शंकरजी के गण लेते हैं। स्वामी भले ही उदार हो जाय, पर गण वैसे उदार नहीं होते। गणों को नारदजी पर क्रोध आ गया था। उन्हें लगा कि अपने को कामजयी बताकर यह हमारे स्वामी की बराबरी कर रहा है। तो, ये दोनों गण दोषदर्शी बनकर विश्वमोहिनी के स्वयंवर में नारदजी के पास आकर बैठ गये। नारद के जीवन में अहंकाररूप एक दोष क्या आया कि उसने सारे दोषसमूह को अपने पास बुला लिया। फलतः नारद में काम आदि सारे दोष आ गये। तब भगवान् ने नारद के रोग की चिकित्सा करने की व्यवस्था की। जब विश्वमोहिनी ने भगवान् विष्णु के गले में जयमाला डाल दी और भगवान् उसे लेकर चले गये, उस समय दोनों रुद्रगण नारदजी के पास ही बैठे हुए थे। विष्णु और शंकर नारद को जो न दिखा पाये थे, वह ये दोनों रुद्रगण दिखा देते हैं, वे नारद से कहते हैं——

निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई (१/१३४/६)

——जाकर दर्पण में अपना मुँह तो देखिए! और जब नारद ने जल में अपना मुँह देखा, तो उन्होंने अपनी नहीं

अपितु एक बन्दर की आकृति देखी। यह बड़ा विचित्र संकेत है। जब व्यक्ति शीशे में देखता है, तो उसे अपना मुँह दिखायी देता है, दूसरे का मुँह नहीं। पर यहाँ नारद जल में अपना नहीं, बन्दर का मुँह देखते हैं। जब दुबारा उन्होंने जल में देखा, तब उन्हें अपना असली रूप तो दिखायी दिया, पर अपना दोष नहीं। उन्हें दोष उनका दिखायी दिया, जिन्होंने उन्हें बन्दर की आकृति दी थी। बस, क्या था, वे क्रोध से अधीर हो गये और——

फरकत अधर कोप मन माहीं।
सपदि चले कमलापति पाहीं ॥ १।१३५।२

——उनके ओंठ फड़कने लगे तथा वे तुरन्त ही भगवान् कमलापति के पास चले।

उन्हें भगवान् बीच रास्ते में ही मिल गये——

बीचहि पंथ मिले दनुजारी।
संग रमा सोइ राजकुमारी ॥
बोले मधुर बचन सुरसाईं।
मुनि कहँ चले बिकल की नाईं ॥ १।१३५।४-५

भगवान् ने पूछा——मुनिजी, आप कहाँ जा रहे हैं? आपका तो मेरे प्रति बड़ा विश्वास था और आप कहते थे कि आपका मुझसे बढ़कर कोई हितैषी नहीं है। आप तो मुझमें कोई दोष देखते नहीं हैं, फिर इस प्रकार विकल होकर कहाँ जा रहे हैं? यह सुन नारद को भगवान् विष्णु पर इतना क्रोध आया कि वह वर्णनातीत था। उन्होंने शंकरजी में तो केवल ईर्ष्या का एक दोष ही देखा था, पर विष्णु भगवान् में वे तो दोषों का पहाड़ देखते हैं। वे फूट पड़ते हैं——

पर संपदा सकहु नहिं देखी ।
तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी ।।
मथत सिंधु रुद्रहि बौरायहु ।
सुरन्ह प्रेरि विष पान करायहु ।।
असुर सुरा बिष संकरहि आपु रमा मनि चारु ।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु ।।१।१३६

——वे भगवान् को एक साथ इतनी सारी उपाधियाँ दे डालते हैं । उन्हें भगवान् में अवगुण ही अवगुण दिखायी देने लगते हैं ।

मानस-रोग की सबसे बड़ी समस्या यह है कि व्यक्ति कितना भी सजग और सद्गुणसम्पन्न क्यों न हो, पर यदि दुर्गुणों को परास्त करके अहंकारी बनेगा, तो उसके जीवन में वे सारे दुर्गुण-दुर्विचार फिर से प्रविष्ट हो जाएँगे । बुराइयों की बुराई जानने के पश्चात् भी यदि व्यक्ति मोहग्रस्त हो दुर्गुणों पर सफलता पाने का अहंकार अपने ऊपर लाद ले, तो यह उसका दुर्भाग्य ही कहा जायगा । गोस्वामीजी नारद के चरित्र के द्वारा यह बताना चाहते हैं कि नारद-जैसा महापुरुष भी यदि असावधानी के कारण इतने मानस-रोगों से ग्रस्त हो सकता है, तो जो साधक यह समझता है कि उसका अन्तःकरण दोष-शून्य हो गया है, उससे बढ़कर आत्मप्रवंचना और नहीं हो सकती । तभी तो वे लिखते हैं कि ये मानस-रोग हैं तो सबके, परन्तु इन्हें कोई विरले ही देख पाते हैं——

हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए । १।१२१।२

(क्रमशः)

○

ठाकुर के नरेन और नरेन के ठाकुर (३)

स्वामी बुधानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी बुधानन्दजी रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली के सचिव थे। उनका प्रस्तुत लेख मूल बँगला में सर्वप्रथम 'उद्बोधन' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। लेख की लोकप्रियता देख उसे बाद में पुस्तकाकार में भी प्रकाशित किया गया। इसकी दो किस्तें 'विवेक-ज्योति' के पिछले दो अंकों में प्रकाशित हो चुकी हैं। यह लेख की तीसरी एवं अन्तिम किस्त है। हिन्दी-रूपान्तरकार हैं बेलुड़ मठ के स्वामी सत्यरूपानन्द। ——स०)

(सात)

गिरीशबाबू ने विवेकानन्द से कहा——भाई नरेन, तुम ठाकुर की एक जीवनी लिखो। वीर विवेकानन्द को इतना त्रस्त होते और कभी नहीं देखा गया। उन्होंने कम्पित कण्ठ से कहा——जी०सी०, यदि कहो कि समुद्र सुखा दो, तो वह सुखा दूँगा; यदि कहो कि पर्वत चूर-चूर कर दो, तो वह भी कर दूँगा; किन्तु मुझसे ठाकुर की जीवनी लिखने को न कहो।

ठाकुर की जीवनी विवेकानन्द ने नहीं लिखी। किन्तु गिरीशबाबू के अनुरोध को अप्रत्याशित रूप से पूर्ण कर गये हैं स्वामीजी। 'खण्डन-भव-बन्धन' गीति-छन्द के रूप में श्री ठाकुर का जो जीवन्त भाव-विग्रह स्वामीजी हमारे लिए रख गये हैं, वह चिरकाल तक ध्यान की प्राणवन्त वस्तु बना रहेगा। उस छन्द में उन्होंने रामकृष्ण के कुल-गोत्र, जन्म-धाम, साधना-आराधना, यहाँ तक कि उनके अनिन्द्य अवयवों का भी वर्णन नहीं किया, अपितु भावमुख के रामकृष्ण को भावमुख-रूप में ही प्रकाशित किया। दक्षिणेश्वर में इतना जो माखन-सन्देश खिलाया था—— इतना जो 'नरेन खाओ' 'नरेन खाओ' कहा था, वह सब

इसीलिए तो कि सब वापस मिलेगा ! असीम सीमा के भीतर पकड़ में आया था। भक्त विवेकानन्द आँसू पीकर पुनः उसे असीम-आयतन अखण्ड के घर में, जहाँ से आना हुआ था, वापस ले गये।

कहा--'वन्दि तोमाय' (तुम्हारी वन्दना करता हूँ)। किन्तु वे हैं कौन ? उनका रूप क्या है ? कितना आश्चर्य-जनक उत्तर दिया--'खण्डन-भव-बन्धन' ! भव-बन्धन कौन खण्डन करता है ? जो अखण्ड है, वही खण्डन-भव-बन्धन है। खण्ड के द्वारा खण्डन नहीं होता। समस्त खण्डित वस्तु मायाधीन है। फिर भी वे व्यक्त हो, व्यग्र हो, प्राणों के देवता होकर हृदय में क्यों आये हैं ?--स्मृति खोये मनुष्य को पुनः अखण्ड में वापस ले जाने के लिए ही तो। वे निरंजन--अंजनहीन, नररूपधारी हैं। उनके उस रूप ने मनुष्य को आत्मश्रद्धावान् बनाया है, भगवान् को अपना जन--धारणा की वस्तु बनाया है। उनके कोई गुण नहीं, फिर भी वे गुणमय हैं। धर-पकड़ के बाहर हैं, फिर भी पकड़ में आये हैं--निज कृपा से। उनको जकड़-कर पकड़ लेने पर इस धरा की समस्त आसक्ति और लगाव से बाहर जाया जा सकता है। जकड़कर नहीं पकड़ सकते, तो 'म्याऊँ-म्याऊँ' करो। बन जाएगा। बन्दी होने के कितने फन्द सिखा गये। यदि उनकी वन्दना न करें, तो किसकी करेंगे !

इस पंकिल कलियुग में वे हैं 'मोचन-अघदूषण'। भले ही हमें चिज्जड़ ग्रन्थि ने बाँध रखा है, पर हमने भरोसा नहीं छोड़ा है। वे स्वयं ही चुम्बक हैं--सुई को दबोचकर वे स्वयं ही कीचड़ दूर कर देते हैं। तभी तो भगवान् में थोड़ा-बहुत मन लगता है। कैसी करुणा की

टीस से सनी हुई वाणी है—'कभी भगवान् चुम्बक होते हैं और भक्त सुई, तो कभी भक्त चुम्बक होते हैं और भगवान् सुई।' यदि ऐसा न होता तो क्या भरोसा हो सकता था? वे कालातीत हैं, इसीलिए तो काल के घर में कालस्वरूप हैं। तभी तो काले रूप (माँ-काली) से प्यार है—यह कितने दिनों गाया है।

देखने में हम लोगों के समान ही थे। कितने निज-जन के समान बातचीत करते। फिर भी थे ब्रह्मवस्तु। देह की मांस-मज्जा काशीपुर में दग्ध हो गयी, तब भी कोटि-कोटि भक्त-हृदयों में वही 'चिद्घनकाय'—राम-कृष्ण-तनु झलक रहा है। एक ही तो थे। फिर इतने हुए कैसे? एक ही थे इसीलिए तो।

आँखों की ओर ताककर देखो। वे आँखें देखकर भी नहीं देख रही हैं। वस्तु को देख रही हैं, अवस्तु को नहीं। अवस्तु नहीं जो है! सत् को देख रही हैं, असत् को नहीं। असत् हो तब तो देखें। ये विमल-नयन ही 'ज्ञानांजन' हैं, अज्ञान का ध्वंस और मोह-माया का नाश करनेवाली आलोक-शिखा हैं।

अस्ति-वस्तु के रस को भाव कहा जा सकता है। श्रीरामकृष्ण उसी के समुज्ज्वल सागर हैं। वे दार्शनिक का निर्विकार ब्रह्मसागर नहीं हैं। वे हैं 'चिर-उन्मद-प्रेमपाथार'। प्रेम में पड़कर आये हैं। जो आये हैं, वे यदि अनन्त हैं तो उनके प्रेम का अन्त पाओगे कहाँ? पाओगे भी कैसे? जिनके प्रेम का अन्त नहीं, उनके प्रेम को हेतु की क्या आवश्यकता है? उनका प्रेम अहैतुक है—बे-हिसाब है। वे हिसाब लगाना नहीं जानते। उनका तो सर्वस्व निछावर कर देनेवाला उन्मत्त प्रेम है।

जो जगदीश्वर हैं, वही योगेश्वर हैं। वे ही युग-युग में आते हैं। इस बार दुर्निवार करुणा-भक्ति के आकर्षण से वे भक्तों को तारने आये हैं। वियुक्त को युक्त करने आये हैं। सब कोई ईश्वर के साथ अपने सबसे अन्तरंग और शाश्वत सम्बन्ध को भूले हुए हैं। लोगों की भीड़ में, बातचीत करते, रास्ता चलते, ठिठोली करते, हास्य और रोदन की विभिन्न मुद्राओं में से अचानक समाधिस्थ होकर उन्होंने मनुष्य की सत्य-सनातन अवस्था को दिखा दिया। जीव को पुनः शिव करने के लिए सत्य-सुन्दर होकर जीवन धारण किया। अज्ञान के घर में उन्होंने प्रज्ञान का मणिदीप जलाया।

'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' कहकर वे काष्ठ मौन नहीं हो गये, बल्कि भूमि में लोट-पोट हो आँखों के जल में डूबकर कहा––हे जीव, एक बार तो हरि बोलो। जीव-प्रेम के इतने कातर कंगाल थे! स्वयं के जीवन में तो कोई दुःख था नहीं, फिर भी सारे जीवन इतना रोये क्यों? इसीलिए कि वे 'करुणाघन भंजन-दुःखगंजन' हैं। इस अश्रु से जीव का कितना अकल्याण धो गये हैं, यह कौन जानता है! जिनकी गरज है वे ही जानें। प्रेम की गरज वे ही जानते हैं।

'बलराम ने खिलाया है, अब नचवा लेगा'! जीवन देने के लिए ही जीवन-धारण है। माँ से कितना कहा–– "माँ, मुझे अचैतन्य न करना। माँ, मुझे ब्रह्मज्ञान मत देना। मैं मनुष्य को लेकर आनन्द मनाऊँगा।" और कैसा आनन्द मनाया! तिल-तिलकर अपने प्राण दे दिये। उन्होंने अपने द्वार सदैव खुले रखे––जिसकी इच्छा हो हवा के समान जब कभी आ-जा सकता है। बैठे हैं, लेटे हैं,

पर सब समय प्रतीक्षा है---कब पीड़ित, तप्त, भ्रान्त जिज्ञासु आ जाए। गहरी निशा में वेश्या के घर से आया शराबी गिरीश! उसके साथ ही उसका हाथ पकड़कर माँ के नाम में मत्त हो नृत्य करने लगे। 'कृन्तन कलिडोर' जो हैं! काली के खडग के बिना क्या 'कलि-डोर' कट सकता है? फिर भी ठाकुर ने उस खड्ग को कितने प्रेम-द्रव में डुबाकर तब उससे आघात किया। आघात की पीडा तो अपने ऊपर ली, पर उसका लाभ दूसरों को बाँट दिया। गले में कैंसर का इतना कष्ट था, तब भी जीव-सेवा में विराम न था। ऊपर से यह कह दिया---तुम सब यदि कहो कि बहुत कष्ट है, यह शरीर चला जाए, तो छोड दूँगा। किन्तु तब भी तो किसी ने यह बात नहीं कही। शेष तक देने के लिए आये जो थे। प्राणों का शेष न होने पर आत्मयज्ञ की समाप्ति कैसे होगी? प्राणान्त होने पर ही वेदान्त होगा।

कामिनी का त्याग कर शक्ति का उद्धार किया और उसे अपनी महिमा से मण्डित किया। कांचन का त्याग कर श्री को हृदय में आसन दिया। मानव की इस पृथ्वी को इतना ऐश्वर्यशाली बनाकर छोड गये। अब हिस्से करके जितना चाहे ले लो न। त्यागीश्वर के दान का---अवदान का अन्त नहीं मिलेगा। वह इस बैंक का अंक नहीं है। वह तो चर्तुवर्ग की चाभी है।

मनुष्य की छाती भय और संशय से हर समय धक्-धक् करती रहती है। मानो वह शिकारी द्वारा पीछा किया जा रहा पशु हो। वह निर्भय होने के लिए चूहे के समान बिल खोजता रहता है। दूसरों के मुँह का अन्न छीनकर अपने पुत्र-पुत्रियों के लिए छिपाकर रखता है।

सुरक्षित होने के लिए पृथ्वी का ध्वंस कर देनेवाले अस्त्र-शस्त्र जमा कर रहा है। शान्ति के लिए आक्रामक हो बैठा है और इधर देखो तो कितनी विद्या, कितनी कला, कितना विज्ञान! यही तो मनुष्य है! हाय रे मन-होश! तेरी क्या दुर्दशा हो गयी है! परन्तु इसके बीच भी युक्ति का उन्मुक्त पथ है। अपने को जानो—आत्मानं विजानीहि। कंगाली दूर हो जाएगी, भय-संशय दूर हो जाएगा। छाती धड़-धड़ नहीं करेगी। 'भगवान्—लाभ जीवन का उद्देश्य है'—ऐसा कहकर मनुष्य के जीवन को तीर के समान इतना लक्ष्योन्मुख और किसने किया है? इस एक को पकड़ लेने पर ही हो जाएगा और सब अपने आप ठीक बैठ जाएगा। इसी को कहते हैं ईश्वर-प्रेम। यह भटके हुए को घर वापस ले आता है और यह समझा देता है कि बन्दूक को गोली का डर नहीं होता। लक्ष्योन्मुख हो जाओ। लाख समस्याएँ कुछ नहीं कर पाएँगी।

ऐसे अनेकों हैं—लाख-लाख लोग हैं, जो अपने को कैसे जानें यह नहीं जानते। उनके लिए वे बिना शर्त कर्णधार हैं—'निष्कारण भकत-शरण।' संसार भर में यही करते फिर रहे हैं। यह तो कभी नहीं कहते—देखूँ तेरी जनेऊ कहाँ है? अष्टाध्यायी पढ़ी है? उनके हृदय से तो अकारण ही प्रेम उमड़ रहा है। तभी तो जहाँ आर्ति-भ्रान्ति-अशान्ति है, वहाँ किसी न किसी बहाने वे आकर उपस्थित हो ही जाते हैं। सदर दरवाजा खुला न होने पर खिड़की से आ जाते हैं। दद्दाजी का हाथ पकड़कर घुस न पाने पर नाती-पोते की बालबोध पुस्तिका में चित्र के रूप में छिपकर घर में घुस जाते हैं। कितने कौशल हैं उनके। क्या किया जाय, क्या लेकर रहें! आये थे इसीलिए

तो यह दायित्व आ पड़ा।

दुःख का अन्त ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मानव ने दुःख का यह पहाड़ ही खड़ा कर लिया है। इतना दुःख किस बात का ?––अभाव का। इतना अभाव कहाँ से आता है ?––स्वभाव से। मरने पर भी स्वभाव नहीं जाता। तब भी उपाय है। यह जो चरणयुगल हैं, जिनमें यह विश्व लोट रहा है, उनका आश्रय ले लो। तब देख पाओगे कि संसार सचमुच असार है। भक्ति ही शक्ति है और शक्ति ही ऐश्वर्य। भक्ति में जो शक्ति है, उसके स्वभाव में वे अनुस्यूत हैं। गाय के खुर के जल में यदि लहरें उठें तो उसमें नाव नहीं डूबती। इसलिए सच्ची सम्पदा ये ही श्रीचरण हैं। 'सम्पद तव श्रीपद भव गोष्पद वारि जथाय'।

कामारपुकुर का एक भोलाभाला बालक आज कैसे सारे विश्व में छा गया है––अनेक लोगों के बहुविध दुःखों का भार वहन करता फिर रहा है। उसने कितने अशान्त हृदयों में शान्ति का फुहारा खोल दिया है। कितने भय-भीतों को अभय दिया है। कितने त्रस्तों को आश्वस्त किया है। कितने भ्रान्तों को पथ-निर्देश दिया है। कितने मित्रहीनों का प्राणप्रिय मित्र बना है। कितने अपवित्र जीवन को सुन्दर और पवित्र बनाया है। वह देश-देशान्तर में कितने प्रकार से छा गया है। सबके निकट वह हृदय की वस्तु मानो उसी व्यक्ति के लिए है, फिर भी वह सभी का है। 'प्रेमार्पण समदरशन' होने के कारण ही तो 'जगजनदुःखजाय' है।

आये थे अस्ति-नास्ति के उस पार से, फिर भी मिट्टी के पात्र (शरीर) के आधेय हुए। प्रभु अवतरण-लोभी हैं, तभी तो कहा कि फिर से आएँगे––हाथ में टूटा हुआ

मिट्टी का पात्र लेकर। आएँ या न आएँ उससे कुछ आता-जाता नहीं। यह जो आये हैं उसी में कितनी उथल-पुथल हो गयी! जो उन्हें एक बार हृदय में धारण कर ले, वह क्या फिर अज्ञान के अन्धकार में रह पाएगा? उसे तो आलोक के राज्य में, हृदय के भीतर, स्वाराज्य-लाभ होगा।

नरेन्द्र के ठाकुर हैं भावमुख के ठाकुर——भाव के ठाकुर। उनको छुआ तो जा सकता है, पर पकड़ा नहीं जा सकता। पकड़ना उनके हाथ की बात है।

याद है उस दिन की बात? पिछली रात नरेन्द्र को माँ (भवतारिणी) के दर्शन हुए हैं। ठाकुर ने ही भेज दिया था। माँगने गये थे जगदीश्वरी के पास लौकी-कुम्हड़ा——माँ-भाई-बहन के रहने-खाने की व्यवस्था! पर माँ के सामने खड़े होकर सब भूल गये। किन्तु इधर श्रुतिधर थे। भक्तिविह्वल हो बार-बार नतमस्तक होकर कहा——'माँ! विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान दो, भक्ति दो। और जिससे नित्य सतत तुम्हारे दर्शन पाता रहूँ वैसा कर दो।' तीन बार जाकर भी जिह्वा से, मन से भौतिक लाभ की प्रार्थना का उच्चारण न कर पाए। जिसके हृदय में स्वयं माँ अवतरित हो गयी हैं, उसका तो सब कुछ हो गया। उसका कुछ माँगने का जोर ही नहीं रहता। उसका चाहना या पाना केवल माँ की उपासना को लेकर ही होता है। तभी तो भू-लुण्ठित हो, धर-धर आँसू बहाते हुए कहा——कुछ नहीं चाहिए, माँ! केवल ज्ञान दो, भक्ति दो! किन्तु ठाकुर से ये बातें कहला ही लीं——'अच्छा जा, उन लोगों को मोटे कपड़े और मोटे अन्न का कभी अभाव न होगा।' क्या उन्होंने यों ही कहा

था कि अवतार गाय का थन है ? दखो, संसार को कितनी श्रद्धा से मान लिया। ऐसा तो नहीं कहा––'का ते माता, कस्ते भ्राता, का ते भगिनी।'––कौन तेरी माता है, कौन भाई और कौन बहन ? वे तो सभी से कहते हैं कि संसार की व्यवस्था करके आओ। हरीश को दक्षिणेश्वर से भगा दिया। विवाह करके सन्तान के पिता बनकर स्त्री-पुत्र की व्यवस्था न कर धर्म करने जाना पाखण्ड है। स्पष्ट शब्दों में और भी कहा––माँ-बाप को ठगकर जो धर्म करने जाएगा, उसका खाक होगा ! यह भी ठाकुर की एक नये प्रकार की मातृ-साधना है––बेल के बीज को न छोड़ सब कुछ स्वीकार करना। वेदान्त की इसी हृदय-वत्ता को ठाकुर ने नरेन्द्र को विशेष रूप से सिखाया। स्वयं का शरीर रहने तक उन्होंने नरेन्द्र को गृहत्यागी नहीं होने दिया––संसार का ऋण चुकाने के लिए उन्हें कष्ट में डाले रखा। नरेन्द्र ने ठाकुर को अपने जीवन में इसी प्रकार प्रकाशित किया।

उस रात को मन्दिर से लौटकर उन्होंने ठाकुर से कहा––'माँ का गाना सिखा दो।' ठाकुर ने स्वयं यह गाना नरेन्द्र को सिखाया––

आमार मा त्वं हि तारा, तुमि त्रिगुणधरा परात्परा।
तोरे जानि मा ओ दीनदयामयी, तुमि दुर्गमेते दुःखहरा॥
तुमि जले, तुमि स्थले, तुमिइ आद्यामूले गो मा,
आछो सर्वघटे अक्षपुटे साकार आकार निराकारा।
तुमि सन्ध्या, तुमि गायत्री, तुमिइ जगद्धात्री गो मा,
तुमि अकूलेर त्राणकर्त्री सदाशिवेर मनोहरा॥

(भावार्थ)

मेरी माँ, तुम परात्परा हो,

त्रिगुणधारिणी, तुम हो तारा।
दीन हेतु तुम दयामयी हो,
दुखियों का दुख हरतीं सारा ।।
तुम हो जल में, तुम स्थल में हो,
आदिमूल में तुम ही माता।
घट-घट में तुम, नेत्र-नेत्र में,
निराकार तुम, तुम साकारा ।।
तुम सन्ध्या, तुम ही गायत्री,
तुम ही जगद्धारिणी माता।
तुम अकूल की रक्षा करतीं,
तुमसे है शिव का मन हारा ।।

ठाकुर के सुर में सुर मिलाकर उस महानिशा में नरेन्द्र ने माँ का यह गाना सीखा। उसके पश्चात् सारी रात विभोर होकर गंगा के तीर पर गाते हुए उन्होंने आकाश और वायु को मानो इस गीत से भरपूर कर दिया।

प्रातः एक भक्त ने आकर देखा ठाकुर का मुख आनन्द से उत्फुल्ल हो रहा है। नरेन्द्र बरामदे में पड़े सो रहे थे। उसे दिखाकर आनन्द से विभोर हो ठाकुर ने कहा—'नरेन्द्र ने काली को मान लिया। क्यों, अच्छा हुआ न?' बार-बार बस यही एक बात कहते। छोटा बच्चा जैसे एक गाल से दूसरे गाल में बदल-बदलकर लाजेंस चूसता रहता है, ठाकुर भी उसी प्रकार रस ले-लेकर हँसते-हँसते बोलने लगे—'नरेन्द्र ने माँ को मान लिया। क्यों, अच्छा हुआ न?'

नरेन्द्र शाम को जब ठाकुर के घर में आकर बैठे, ठाकुर उन्हें देखते ही भावाविष्ट हो गये। एकदम नरेन्द्र की गोद में बठकर उन्होंने अपने शरीर और नरेन्द्र के

शरीर को एक के बाद एक दिखाते हुए, 'ठाकुर के नरेन' और 'नरेन के ठाकुर' का चूड़ान्त रहस्य उद्घाटित करते हुए कहा——'देखता क्या हूँ कि यह भी मैं हूँ, फिर वह भी मैं हूँ। सच कहता हूँ कोई अन्तर नहीं देख पा रहा हूँ। मानो गंगा के जल में किसी ने एक लाठी फेंक दी हो। दो भाग दिख तो रहे हैं, पर वास्तव में कोई भाग नहीं, एक ही है।——समझ पा रहे हो? माँ को छोड़ भला और क्या है, कहो?'

उसके बाद कह उठे——तम्बाकू पीऊँगा। हुक्के से पीना अच्छा न लगा। दो बार दम लेकर ही कहा——चिलम से पीऊँगा। चिलम से दो-चार दम खींचकर और एक काण्ड किया। नरेन्द्र के मुख के पास चिलम रखकर कहा——'ले पी! मेरे हाथ से ही पी!' गुरुभक्त नरेन्द्र एकदम संकुचित हो उठे। ठाकुर ने तब पकड़कर नरेन्द्र की आँखों में अन्तिम ज्ञानांजन लगा दिया, कहा——'तेरी तो बड़ी हीन बुद्धि है रे! तू और मैं क्या अलग-अलग हैं? यह भी मैं हूँ, वह भी मैं हूँ!'

यह केवल वेदान्त की दृष्टि से नहीं है। यह जो कहा गया——'माँ को छोड़ भला और क्या है, कहो' इस तत्त्व के साथ 'यह भी मैं हूँ, वह भी मैं हूँ' का तत्त्व एक है।

ठाकुर के ही नरेन हैं और नरेन के ही ठाकुर! ठाकुर ही नरेन हैं और नरेन ही ठाकुर! 'यह भी मैं और वह भी मैं।'

(समाप्त)

○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) गुरु ही सूँ सब होत हैं

महात्मा रज्जब और वषना दोनों सन्त दादू के शिष्य थे। एक बार रज्जब वषनाजी के घर गये। रज्जबजी के शरीर-सौष्टव और वेशभूषा से उनकी सम्पन्न अवस्था की झलक साफ दिखायी दे रही थी। वषनाजी की पत्नी ने अपने पति से कहा, "दादू के एक ये शिष्य हैं, जिनकी सम्पन्न अवस्था स्पष्ट दिखायी दे रही है और एक आप शिष्य हैं कि घर में खाने को भोजन भी रोज नसीब नहीं होता।" इस पर वषनाजी ने कहा, "अरी, तुम भी क्या घर का दुखड़ा रोने लगीं। यह सब गुरुदेव की कृपा है। गुरु की कृपा होने पर किसी बात की कमी नहीं रहती।" और उनके मुख से यह दोहा निकला--

रज्जब को था सम्पदा, गुरु दादू दीनी आप।
वषना को था आपदा, था चरणारो परताप।।

पति-पत्नी का वार्तालाप सुन रज्जब मन ही मन मुसकरा रहे थे। थोड़ी देर बाद वे वहाँ से चले गये। मगर गुरु दादू से बात कैसे छिपी रहती? दूसरे दिन से ही वषनाजी के घर की आर्थिक स्थिति बदल गयी। उनकी पत्नी को अपनी विपन्नावस्था का रोना रोने का फिर कभी मौका नहीं आया।

(२) साध भूखा भाव का

एक बार सन्त अबू हफ़स हदाद सन्त शिबली के घर गये। वहाँ वे चार महीने रहे। सन्त शिबली ने उनकी अच्छी खातिरदारी की और वे उन्हें रोज नयी-नयी चीजें पेश करते। बिदाई के समय शिबली से

उन्होंने कहा, "जब कभी भी नेशापुर आओ, तो मेरे ही मेहमान बनना। मैं तुम्हें अपनी जवांमर्दी दिखाऊँगा। मेहमान के साथ तकल्लुफ काहे की कि जिससे उसके आने पर रंज और जाने पर खुशी न हो।"

कुछ दिनों बाद शिबली को नेशापुर जाने का मौका आया, तब वे अबू हफ़स के घर ही मेहमान रहे, मगर उनके साथ उनके उनचालीस शिष्य भी थे। रात को अबू हफ़स ने इकतालीस दिये जलाये। यह देख शिबली ने पूछा, "हर मेहमान के लिए अलग-अलग चिराग़ जलाना क्या तकल्लुफ़ नहीं हुआ?" अबू हफस बोले, "अगर तुम इसे तकल्लुफ़ समझते हो, तो इन चिरागों को गुल कर दो।" शिबली ने दियों को बुझाने की बहुत कोशिश की, मगर एक को छोड़कर और कोई दिया वे बुझा नहीं पाये। चकित हो शिबली ने इसका कारण पूछा, तो सन्त हदाद बोले "मेहमान खुदा का भेजा होता है और उसी का प्रतीक होता है। मैंने अल्लाह के बन्दों की खातिर चालीस और अपने लिए एक, ऐसे इकतालीस चिराग़ रोशन किये थे। चूँकि चालीस खुदा के लिए थे, इसलिए वे गुल न हुए और जो मेरे लिए था, वह गुल हो गया। तुमने बगदाद में जो खातिरदारी की थी, वह मेरे लिए थी और इसलिए वह तकल्लुफ़ था। मैंने जो कुछ किया, वह अल्लाह के लिए किया था, इसलिए उसमें तकल्लुफ़ी किस बात की? अल्लाह के बन्दों को भला खातिरदारी और चीजों की क्या जरूरत? वे तो सत्संग के लिए एक-दूसरे के पास जाते हैं। मगर तुमने उन्हें मेहमान समझकर उनके साथ तकल्लुफ़ी की!"

(३) राम तें अधिक राम कर दासा

एक बार सूफी सन्त हसन बासरी नदी के किनारे खड़े थे कि सामने से उनका शिष्य हबीब आज़मी वहाँ आया। उसने गुरु को देखा, तो पूछा, "किसका इन्तज़ार कर रहे हैं, उस्ताद।"

सन्त हसन ने जवाब दिया, "नदी के उस पार जाना है, इसलिए नाव का इन्तज़ार कर रहा हूँ।"

"बस, इतनी-सी छोटी चीज़ का इन्तज़ार कर रहे हैं आप ?" हबीब ने आगे कहा, "नदी पार करना कोई बड़ी बात नहीं है। आप खुद ही पार कर सकते हैं। अपने दिल से जलन, बैर और दुनियाँ की मोहब्बत को निकाल कर पाक-ए दिल कर लीजिए और खुदा पर यकीन करके पानी पर से नंगे पाँव चलने लगें, तो खुद ही आसानी से नदी को पार कर लेंगे।"

सन्त हसन ने सुना तो सोचने लगे कि यह तो पागल-सी बात कर रहा है और मुझे सीख दे रहा है। वे उससे बोले, "अहमक तो नहीं हो गया है तू ? क्या नदी पैदल पार की जा सकती है ?"

हबीब ने कोई जवाब नहीं दिया और उसने पानी पर से चलना शुरू किया। देखते ही देखते वह नदी के उस पार पहुँच भी गया। गुरु ने देखा, तो वे दंग रह गये, बोले, "मेरा ही शागिर्द मुझसे आगे बढ़ गया। मुझसे इल्म सीखनेवाला मुझे इल्म दे गया।" बाद में जब हबीब वापस आया तो गुरु ने पूछा, "तूने यह मर्तबा कैसे हासिल किया ?" हबीब ने एक ही वाक्य में जवाब दिया, "बात यह है कि मैं दिल साफ़ करता गया और आप कागज़ काले करते रहे।"

(४) का भाषा का संसकृत

केरल मे 'पूंतानम नंपूतिरि' नामक एक महान् सन्त कवि हो गये हैं। एक दिन वे अपनी एक कविता लेकर अपने एक परम मित्र मेल्पत्तूर नारायण भट्टतिरि के पास गये। भट्टतिरि संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, मगर मलयालम का भी उन्हें ज्ञान था। नंपूतिरि ने उनसे कहा, "इस तुच्छ कविता में जो भी त्रुटियाँ दिखायी दें, कृपया आप उनमें संशोधन कर दीजिए।". भट्टतिरि ने सोचा कि उनके-जैसे संस्कृत के विद्वान को संस्कृत से निम्नतर भाषा में संशोधन करना उचित नहीं, अतः उन्होंने नंपूतिरि से कहा, " यह तो मलयालम की रचना है। उचित होता, किसी मलयालम के कवि को इसे दिखाया होता।" नंपूतिरि उनके पास बड़ी आशा लेकर गये थे, यह जवाब सुनकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। मन मसोसकर वे वापस आ गये।

उसी रात्रि को भट्टतिरि को वातज रोग से पीड़ा होने लगी। वैसे ऐसी पीड़ा उन्हें इससे पहले भी हुई थी और तब उन्होंने कृष्ण भगवान् से प्रार्थना की थी, जिससे पीड़ा दूर हो गयी थी। इस बार भी उन्होंने कातर स्वर से भगवान् श्रीकृष्ण से पीड़ा से मुक्त करने की प्रार्थना की। रात्रि को स्वप्न में श्रीकृष्ण ने दर्शन देकर कहा, "तुमने आज मेरे शिष्य नंपूतिरि की कविता न पढ़कर उसे दुःखी किया है। जब तक तुम कविता के बारे में अपना अभिप्राय नहीं बताओगे और उसका समाधान नहीं करोग, तब तक तुम्हारी पीड़ा दूर नहीं होगी।"

भट्टतिरि की जब प्रातः नींद खुली, तो वे सीधे

नंपूतिरि के पास गये। उन्होंने क्षमा माँगी और पूरी कविता पढ़कर मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की। तब कहीं उन्हें वातज-पीड़ा से मुक्ति मिली।

(५) राम को नाम सबन्हि कै दूर करै सब सूल

किम्वदन्ती है कि एक बार कबीरपुत्र कमाल, जिसकी आयु १२ वर्ष की थी, गंगा किनारे खड़े यह सोच रहा था कि 'ब्रह्म राम तें नाम बड़ बरदायक बरदानि' क्या सचमुच सार्थक है? इतने में वहाँ बहुत से लोग आते दिखायी दिये। पूछने पर पता चला कि बीकानेर के किसी सेठ को श्वेतकुष्ठ हो गया है। वह सौ ब्राह्मणों के साथ राम-नाम का जाप करते हुए यज्ञ करने वहाँ आ रहा है। साथ ही उसकी समाधि लेने की भी इच्छा है। कमाल ने सेठ को रोककर कहा, "तुम समाधि न लो। मैं अभी तुमको चंगा कर दूँगा।" सेठ भला इससे इनकार क्यों करता? तब कमाल ने उससे कहा, "तुम कपड़े उतारकर, नाक को पकड़कर नदी में गोता लगाओ। तली में पहुँचने पर 'राम' का नाम लो, तुम्हारा कोढ़ दूर हो जाएगा।" सेठ ने वैसा ही किया, किन्तु कोढ़ दूर न हुआ। तब कमाल ने उससे कहा, "तुम श्रद्धा और प्रेम से 'राम' का नाम लो और फिर से डुबकी लगाओ, रोग निश्चय ही दूर हो जाएगा।" लेकिन इस बार भी कोई फायदा नहीं हुआ। तब कमाल ने उसे फिर से गोता लगाने के लिए कहा। जब सेठ डुबकी लगाने लगा, तो कमाल ने पास ही पड़े एक लकड़ी से उसके सिर पर प्रहार किया। 'हाय राम' कहकर सेठ चिल्ला उठा, और जब डुबकी लगाकर उसने सिर ऊपर उठाया, तो सिर से रक्त की धारा

बह रही थी, मगर कोढ़ दूर हो गया था। सेठ धन्यवाद देकर वहाँ से चला गया।

घर आकर कमाल ने सारी बात कबीरदासजी को बतायी। उन्होंने जान लिया कि बेटे को घमण्ड हो गया है। बिना कोई टिप्पणी किये, एक चिट्ठी में कुछ लिखकर उसे कमाल को देते हुए उन्होंने कहा, "जाओ, इसे गोस्वामी तुलसीदासजी के पास दे आओ, जो इस समय सामने के राममन्दिर में ठहरे हुए हैं।"

कमाल चिट्ठी लेकर तुलसीदासजी के पास गया और उसने उन्हें चिट्ठी दे दी। उन्होंने चिट्ठी पढ़ी, उसमें लिखा था---

डूबा वंस कबीर का, उपजे पूत कमाल।
तीन राम के नाम से, कोढ़ी कियो बहाल।।

गोस्वामीजी की समझ में कुछ न आया। पूछने पर कमाल ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। वे समझ गये कि कबीरदासजी अपने पुत्र का घमण्ड दूर करना चाहते हैं। उन्होंने उससे कहा, "जाओ नगर में ढिंढोरा पिटवा दो कि काशी में जितने भी कोढ़ी हैं, वे यहाँ आकर मुझसे मिलें, मैं उनका कोढ़ दूर कर दूँगा।"

ढिंढोरा सुनकर मध्याह्न समय लगभग पाँच सौ कोढ़ी गोस्वामीजी के पास पहुँचे। तुलसीदासजी ने एक तुलसीपत्र मँगवाकर उस पर 'राम' लिखा और उसे नदी में बहा दिया। फिर सब कोढ़ियों पर थोड़ा-सा जल छिड़ककर उन्हें नदी में गोता लगाने के लिए कहा। जब वे गोता लगाकर उठे, तो उन्होंने देखा कि उनका कोढ़ चला गया है।

कमाल ने यह देखा तो दंग रह गया। उसने वापस

आकर कबीरदासजी से इस घटना का वर्णन किया, किन्तु वे सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने पुन: एक चिट्ठी लिखकर कमाल से सूरदासजी को देने के लिए कहा।

कमाल ने जाकर वह चिट्ठी सूरदासजी को दी। उसमें लिखा था--

तुलसीजी ने पाँच सौ कोढ़ी किये बहाल।
कितनी कम कीमत हुई, बस एक नाम का कमाल।।

सूरदासजी ने उससे पूछा, तो उसने सारा वृतान्त कह सुनाया। वे कमाल से बोले, 'देख, सामने एक शव बह रहा है, उसे पकड़कर ले आ।"

कमाल ने सामने देखा, तो उसे एक शव बहता दिखायी दिया। मगर वह यह देख चकित रह गया कि अन्धे होकर भी सूरदासजी को शव कैसे दिखायी दिया और चिट्ठी का अंश वे कैसे पढ़ पाये! वह नदी में कूद पड़ा और शव को पकड़कर सूरदासजी के पास ले आया। उन्होंने शव का एक कान पकड़कर 'राम' के 'रा' का उच्चारण किया ही था कि वह मृतक मनुष्य जी उठा और उसने सूरदासजी को प्रणाम किया। यह देखते ही कमाल के तो होश उड़ गये। वापस लौटकर उसने पिता से सारी बात बतायी, तब वे उससे बोले, "बेटे, राम का नाम पारस, कामधेनु और कल्पतरु के समान है। जो जैसा साधक है, उसके लिए यह वैसा ही प्रभावकारी और फलदायी है। मगर इसके लिए घमण्ड करना उचित नहीं।" बात कमाल की समझ में आ गयी और उसने पिता से क्षमा माँगी।

○

रसद्दार मथुर (८)

मूल बँगला लेखक– *नित्यरंजन चटर्जी,* कलकत्ता
अनुवादक– *श्याम सुन्दर चटर्जी,* कवर्धा (म. प्र.)

(गतांक से आगे)

मथुरामोहन चूर्णा की नहर में नाव में बैठकर भ्रमण कर रहे हैं। साथ श्रीरामकृष्ण और हृदय भी हैं। नहर के किनारे-किनारे कच्ची सड़क है। सडक पर से गाँव के लोग चले जा रहे हैं। उनके शरीर से दारिद्रय परिलक्षित हो रहा है। दु:ख-दुर्दशा का मानो कोई अन्त नहीं है।

"सेजोबाबू, क्या वे लोग तुम्हारी प्रजा हैं?" श्रीरामकृष्ण ने प्रश्न किया। मथुरामोहन ने अपनी सम्मति व्यक्त की।

"इसी जमींदारी की तुम बड़ाई करते हो, सेजोबाबू। इनके ही तुम राजा हो! छि:! न जाने कितने दिनों से वे लोग पेट भर खाये न होंगे। अवहेलित नारायण!"––श्रीरामकृष्ण का कण्ठस्वर व्यथा से भारी हो उठा।

"सुनो सेजोबाबू, इस गाँव के लोगों को भरपेट खाना खिलाओ। प्रत्येक को एक-एक कपड़ा भी दो।"

"इसमें तो बहुत खर्च होगा, बाबा। पूरे गाँव के लोगों को भोजन और कपड़ा देना कोई मामूली बात नहीं है? तुम्हीं सोचकर देखो न।"––मथुरामोहन के कण्ठ में अनुरोध का स्वर है।

"अच्छा, तब रह मूर्ख, अपनी इस जमींदारी को लेकर। चाँटता रह अपने इस राजसी ठाट-बाट को। चल हृदे, भाग चलें यहाँ से। यहाँ रहन से तो मेरा दम घुट जाएगा।"

श्रीरामकृष्ण नाव में बैठे हुए थे। उत्तेजना से खड़े हो गये।

मथुरामोहन घबरा उठे। उन्हें सब कुछ मान लेना पड़ा। उनके वचन देने पर ही श्रीरामकृष्ण शान्त हुए।

मनुष्य इतना भी सरल हो सकता है यह मथुरा-मोहन के लिए कल्पनातीत था।

मथुरामोहन सोनबेड़े गाँव जा रहे हैं। साथ में श्रीरामकृष्ण हैं। यह गाँव भी उनकी जमींदारी के अन्तर्गत है। मथुरामोहन हाथी पर और श्रीरामकृष्ण पालकी में बैठकर चल रहे हैं। अचानक बालकों की भाँति श्रीरामकृष्ण का ख्याल हुआ कि वे भी हाथी पर चढ़ेंगे। तुरन्त इसकी व्यवस्था हुई।

श्रीरामकृष्ण नौटंकी देखेंगे। मथुरामोहन ने उन्हें सँवारकर मंच पर बिठा दिया। केवल बिठाया ही नहीं, उनके सामने रुपयों की कुछ ढेरियाँ भी रख दीं। बाबा को जब जिसका गायन अच्छा लगे, उसे दे सकें, इसलिए। एक बालक को जैसा समझाते हैं, उसी तरह उन्हें बार-बार सब कुछ समझा दिया गया।

खेल प्रारम्भ हुआ। पहले ही दृश्य में जिस गायक ने गाना गाया, श्रीरामकृष्ण ने उसी को सारी ढेरियाँ दे दीं। सिखाया हुआ पाठ सब भूल गये। समझना-बूझना सब उलट-पलट हो गया। गायक भी अवाक् रह गया। ऐसा पुरस्कार देना उसने कभी देखा नहीं था।

मथुरामोहन को रंचमात्र भी रंज नहीं हुआ। बाबा को छोड़ ऐसा मिज़ाज और किसको शोभा देगा! पुनः रुपयों की ढेरियाँ बनाकर उनके सामने रख दी गयीं।

मथुरामोहन जमींदारी का लगान वसूल करने आये हुए हैं। साथ में श्रीरामकृष्ण भी हैं। बाबा को जमींदारी दिखाने की उनकी कामना है।

मथुरामोहन तकियों से टिककर जाजम पर बड़े ठाट-बाट से बैठे हुए हैं। उनके पास ही श्रीरामकृष्ण भी बैठे हैं। आज्ञाकारी भृत्य लोग दौड़-धूप कर रहे हैं। चमक-दमक का कोई अन्त नहीं है।

जमींदारबाबू की प्रजा एक-एक करके प्रणाम करते हुए लगान पटाती है। गुमाश्ता सब मिलान कर ले रहा है। कहीं कुछ छूट न जाए। किसी को भी राहत नहीं है।

प्रजा में सब गरीब आदमी हैं। वे अपनी दुःख-दुदशा की बात जमींदारबाबू को बताते हैं। फसल अच्छी नहीं हुई। बाल-बच्चों को लेकर रोजमर्रे की रोटी के लिए उन्हें जूझना पडता है। जमींदारबाबू के समक्ष वे कातर होकर अनुनय-विनय करते हैं––"इस बार के लिए लगान माफ कर दो, जमींदारबाबू!"

मथुरामोहन के चेहरे पर खीज की रेखाएँ उभर उठीं। गुमाश्ता ने भी उन लोगों को धमकाया। वे लोग विवश होकर, मलिन वस्त्र के छोर में बँधा हुआ रुपया निकालकर, अश्रुपात करते हुए बकाया लगान पटाकर चले जाते हैं। श्रीरामकृष्ण का अन्तर वेदना से भर उठता है। उन लोगों की जीर्ण-शीर्ण देह को एकटक देखते रहते हैं।

"इन्हीं लोगों के रुपयों से तुम्हारा कोषागार भरता है! इन्हीं के रुपयों से तुम राजा बने बैठे हो! तभी तो तुम्हारा यह ठाठ-बाट है। छिः, सेजोबाबू,

तुम इनके पिता हो, न ? कहाँ तो इनका दुःख दूर करोगे और कहाँ वह न कर तुम इन पर जुल्म कर रहे हो। ये लोग गरीब आदमी हैं। इनके दुःख का अन्त नहीं है, सेजोबाबू ! इस बार के लिए इनका लगान माफ कर दो !" ––श्रीरामकृष्ण के कण्ठ में अनुनय का स्वर है।

मथुरामोहन ने बिना किसी प्रतिवाद के बाबा का अनुरोध शिरोधार्य कर लिया। गरीब किसानों को लगान पटाने से इस बार माफ कर दिया गया।

एक बार श्रीरामकृष्ण की इच्छा हुई कि साधु-सन्तों को भर-पेट जिमाएँगे।

"सेजोबाबू, कुछ दिनों से साधु-सन्तों को भोजन कराने की इच्छा हुई है। इसकी व्यवस्था करो।

"तुम्हारी जब इच्छा हुई है, तब मुझे व्यवस्था करनी ही पड़ेगी। तुम्हारे आनन्द में ही मुझे सुख है। तुम्हारे प्रसन्न होने से मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। तुम्हारी कृपा ही तो मेरा सब कुछ है, बाबा !"

श्रीरामकृष्ण का चेहरा प्रसन्नता से जगमगा उठा। सोचने लगे––भक्ति के न होने पर क्या कोई ऐसा कह सकता है ?

जानबाजार की कोठी में सैकड़ों साधु-सन्त निमन्त्रित होकर आये। मथुरामोहन ने आयोजन में तनिक भी कृपणता नहीं की। कहीं कोई त्रुटि नहीं थी।

"अब तो खुश हुए हो न, बाबा ?"

महायोगी हँस पड़े। कह उठे––"माँ के दीवान जो हो तुम। तुम्हारे हाथ से माँ सब कुछ करा ले रही हैं।"

श्रीरामकृष्ण को प्रसन्न देखकर मथुरामोहन का मन प्रशान्ति से भर उठा।

मथुरामोहन कालना घूमने जा रहे हैं। श्रीरामकृष्ण एवं हृदय भी साथ में हैं। भगवानदास बाबाजी के आश्रम में ठहरे। मथुरामोहन पर हुक्म हुआ—लंगर करो। मथुरामोहन ने तनिक भी आपत्ति नहीं की। बाबा का आदेश जो था।

कालना से नवद्वीपधाम आये। उन लोगों ने घूम-घूमकर सब कुछ देखा, किन्तु श्रीरामकृष्ण का मन नहीं भरा। सब कुछ मानो श्रीहीन और नीरस हो।

"यहाँ अब अच्छा नहीं लग रहा है, सेजोबाबू! चलो, लौट चलें।"

श्रीरामकृष्ण नौका में लौट आये। नौका चलने लगी। कुछ ही दूर पर टीला-सा है। वहीं अकस्मात् श्रीरामकृष्ण को भाव-समाधि लग गयी। भावदृष्टि से उन्होंने दो किशोरों को देखा। तप्तकांचन की भाँति देह का रंग है। उनमें प्रसन्नता समा नहीं रही है। वे दोनों दौड़ते-दौड़ते आये और उनकी देह में समाहित हो गये। संज्ञा लौट आने पर उन्होंने मथुरामोहन को ये सब बातें बतायीं।

"वहीं पर आदि-नवद्वीप था, बाबा, आज गंगा के गर्भ में विलीन हो गया है। जिन दो किशोरों को तुमने देखा है, वे निमाई-निताई हैं।"—मथुरामोहन बोले।

मथुरामोहन का दृढ़ विश्वास था कि श्रीरामकृष्ण की कृपा से ही उन्हें सब कुछ प्राप्त हुआ है। अर्थ, यश, मान, मर्यादा सभी तो उन्होंने दिया है। किसी भी वस्तु का अभाव नहीं रखा है। वे कृपासिन्धु हैं, उनकी कृपा का अन्त नहीं है।

"बाबा, मुझे भाव-समाधि दो। मैं तुम्हारी कोई भी

बात सुनने के लिए राजी नहीं हूँ। मैं अब भाव-समाधि में डूब जाना चाहता हूँ। मुझ पर दया करो, बाबा !"

मथुरामोहन अनुनय-विनय करते हैं। हृदय की भाव-समाधि की बात भूल गये।

"अरे, समय होने पर होगा। एक बीज बो देने पर क्या तुरन्त वृक्ष हो जाता है, और वृक्ष होते ही क्या उसमें फल लग जाते हैं ? अभी तो तुम्हारा सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा है। भाव-टाव होने पर संसार से मन उठ जाएगा। धन-दौलत की रक्षा तब कौन करेगा ? दुनिया भर के लोग लूट-पाटकर खाएँगे, तब पता चलेगा !"--श्रीरामकृष्ण ने समझाया।

किन्तु मथुरामोहन अपनी बात पर डटे रहे। बोले--"तुम सब कर सकते हो, बाबा ! मेरे समान अपात्र के प्रति तुम्हारी कृपा का अन्त नहीं है। दया करके एक बार के लिए मुझे भाव-समाधि दे दो। उस परमानन्द का स्वाद एक बार तो लेने दो।"

श्रीरामकृष्ण फिर भी राजी नहीं होते हैं, क्योंकि भक्त लोग तो देखना नहीं चाहते, वे सेवा करना चाहते हैं।

श्रीकृष्ण मथुरा चले गये। गोपियाँ आकुल हो क्रन्दन करने लगीं। उद्धव उन्हें ज्ञान देने आये--"कृष्ण-कृष्ण करके इतनी उतावली क्यों हो रही हो ? वे तो सर्वत्र हैं। आँखें बन्द करके देखो, वे तो तुम्हारे हृदय में ही विराजमान हैं।"

गोपियों ने उद्धव की बातें मन लगाकर सुनीं। फिर बोलीं, "यह किस कृष्ण के बारे में कह रहे हो, उद्धव ! जिसे हम लोगों ने खिलाया, पहनाया, सँवारा, उसे अब ध्यान करके क्यों पाने जाएँगे ? हमने तो अपना

मन ही उनके चरणों में समर्पित कर दिया है। अपना कहने का हमारे पास अब कुछ भी नहीं है। हम लोगों के सब कुछ तो वे ही हैं।"

मथुरामोहन ने सब कुछ सुना, किन्तु उनका मन शान्त न हुआ।

"बाबा, मुझ पर केवल एक बार दया करो।"

"क्या मालूम, बाबू, तुम क्या चाहते हो। माँ से कहूँगा, उनकी जो इच्छा होगी, करेंगी।"

कुछ दिन बीत गये। अचानक मथुरामोहन को भाव-समाधि हो गयी। श्रीरामकृष्ण को एक बार आने के लिए उन्होंने अनुरोधपूर्ण सन्देश भेजा। करुणाघन श्रीराम-कृष्ण गये। मथुरामोहन ने उनके दोनों चरणों को जकड़-कर पकड़ लिया। वे मानो अब वह आदमी ही नहीं हैं। दोनों आँखें लाल-लाल हैं, अविरल अश्रुधारा वह रही है। ईश्वर की बातों के सिवाय मुँह में और कोई बात ही नहीं है। सारा अंग थर-थर काँप रहा है।

"बाबा, मुझसे अपराध हुआ है। आज तीन दिन से किसी भी तरह विषय-कर्म में मन नहीं लगा पा रहा हूँ। सब कुछ नष्ट हो जाएगा। तुम्हारा दिया हुआ भाव वापस ले लो, बाबा! मेरी रक्षा करो।"

"क्यों रे, उस समय जब इतना समझाया तब तो सुना नहीं, हठ करता रहा। रट लगाता रहा—मुझे भाव-समाधि दो। फिर आज तेरी मति कैसे पलट गयी?"

—श्रीरामकृष्ण ने कहा।

"मुझसे अपराध हुआ है, बाबा! अब कभी भी नहीं माँगूँगा। तुम्हारी सेवा करने में ही मुझे आनन्द है। तुम्हारी सेवा से ही मेरी मुक्ति है। तुम मुक्तिदाता जो

हो ! यह सब तुम्हें ही शोभा देता है। मुझे केवल भक्ति दो। अपनी करुणा से वंचित न करो, बाबा !"––मथुरामोहन ने प्रार्थना की।

श्रीरामकृष्ण के मुख पर भय दूर करनेवाली हँसी खेल उठी। उन्होंने मथुरामोहन के वक्ष:स्थल का हाथ से स्पर्श किया, त्योंही वे भाव-समाधि से मुक्त होकर अपनी पूर्व अवस्था में आ गये।

भावावेश में श्रीरामकृष्ण एक दिन बोले––"मथुर, तुम जितने दिन जीओगे, मैं भी उतने ही दिन दक्षिणेश्वर में रहूँगा। तुम्हारे चले जाने पर मैं भी यहाँ से चला जाऊँगा।"

मथुरामोहन विचलित हो उठे। श्रीरामकृष्ण का इस स्थान को त्यागना यहाँ के लिए अमंगलकारी होगा। इन्होंने ही तो समस्त अमंगल को दूर कर रखा है। जगदीश्वरी काली तो इनके ही शरीर का अवलम्बन लेकर मेरे परिवार की रक्षा कर रही हैं।

मथुरामोहन रो पड़े।

"ऐसा क्यों, बाबा ? मेरी पत्नी जगदम्बा तथा मेरा पुत्र द्वारकानाथ भी तो तुम्हारे प्रति इष्टज्ञान से भक्ति करते हैं। उन्हें मँझधार में छोड़कर तुम कहाँ जाओगे ? यह नहीं हो सकता, बाबा ! वचन दो, तुम इन्हें छोड़कर नहीं जाओगे।" आवेग से मथुरामोहन का कण्ठ रुद्ध हो गया।

श्रीरामकृष्ण हँस पड़े। भक्तों की प्रार्थना टालना बहुत ही कठिन है।

"ठीक है, जब तक जगदम्बा और तुम्हारा पुत्र रहेंगे, तब तक मैं भी यहाँ रहूँगा।"––श्रीरामकृष्ण ने

अभय दिया ।

मथुरामोहन आश्वस्त हुए ।

मथुरामोहन को फोड़ा हुआ है । दर्द से छटपटा रहे हैं । उन्होंने श्रीरामकृष्ण के पास खबर भेजी । अनुरोध किया कि वे एक बार आकर देख लें ।

आर्त का अनुरोध है । श्रीरामकृष्ण आये ।

"मुझे क्यों बुलाया, सेजोबाबू ! क्या मैं वैद्य हूँ, जो तुम्हारे फोड़े का इलाज करूँगा ?"

"किसने कहा बाबा, कि तुम्हें फोड़े का इलाज करना है ! मैंने तुम्हारी पदरेणु चाही है ।" मथुरामोहन ने श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया । पदरेणु लेकर माथे से लगाया ।

सन् १८७१ का वर्ष है । मथुरामोहन को तेज ज्वर है । श्रीरामकृष्ण प्रतिदिन हृदय को भेजकर खबर लेते हैं । एक दिन मथुरामोहन विकार की अवस्था में बोल उठे—"हे त्रिलोकीनाथ, कृपासिन्धु, मुझ पर कृपा करो । अपने कमण्डलु से मेरे मुँह में गंगाजल डाल दो । वह देखो, माँ आ रही हैं । उनकी नूपुर-ध्वनि सुन रहा हूँ ।"

सन १८७१ की आज १४ जुलाई है । श्रावण का पहला दिन है । आकाश में घनघोर घटा छायी हुई है । मानो प्रलय का पूर्व लक्षण हो । मथुरामोहन का अन्तिम क्षण निकट हो आया है । एकाएक उनका रोगमलिन चेहरा उज्ज्वल हो उठा । क्षीण स्वर में बोल उठे—"कहाँ रह पाये ? मैंने जीवन भर तुम्हारी सेवा की है । इष्ट-ज्ञान से पूजा की है । बिदाई की वेला में इष्ट-दर्शन नहीं होगा, यह कैसे हो सकता है, बाबा ? तुम अपने सेवक को, रस-द्दार मथुर को आशीर्वाद दो । उसकी इस अनन्त यात्रा

के पथ को कल्याणमय बना दो।"—काल की सीमा पर आकर कण्ठ रुद्ध हो गया। दिन का प्रकाश भी उस समय मेघाच्छन्न आकाश में लुप्त हो चला।

"अरे देखो, सेजोबाबू ज्योति के रथ पर चढ़कर वायुवेग से चला जा रहा है। वह अमर्त्य के पथ में चला गया।"

रात्रि में खबर आयी कि मथुरामोहन ने सन्ध्या पाँच बजे अन्तिम साँस ली।

मथुरामोहन एक सच्चे भक्त थे। उन्हें हठी होने की ख्याति प्राप्त थी, किन्तु वे एक बुद्धिमान् व्यक्ति थे। अँगरेजी शिक्षा में शिक्षित तथा तार्किक होते हुए भी दूसरों की बात सुनने का उनमें पर्याप्त धैर्य था। गदाधर के सरल स्वभाव, मधुर प्रकृति तथा सुन्दर रूप ने उन्हें मुग्ध एवं आकृष्ट किया था। समस्त कर्मचारियों ने मिलकर जब गदाधर के विरुद्ध शिकयत की थी, तब उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था—"जो प्रथम दृष्टि में ही सरल स्वभाव के प्रतीत हुए थे, उन्हें स्वयं न देखकर मैं कोई व्यवस्था नहीं दे सकता।"

श्रीरामकृष्ण को उन्होंने पहचाना था। अपना सब कुछ उन्हें समर्पित करने में उन्होंने तनिक भी हिचक नहीं की थी। श्रीरामकृष्ण के पास मथुरामोहन का कुछ भी गोपनीय नहीं था। श्रीरामकृष्ण भी निष्कपट रूप से उन्हें सब बातें बतलाते—चाहे वे सांसारिक बातें हों या साधना-मार्ग की। वे जैसा समझा देते, मथुरामोहन वैसा ही समझ लेते। दोनों ऐसे थे मानो सखा और सुहृद हों। स्वामी और कर्मचारी के मध्य ऐसा सम्बन्ध सचमुच ही विरल है।

मथुरामोहन सब प्रकार की सांसारिक विपदाओं में श्रीरामकृष्ण के पास दौड़कर आते और उनका मत लेते, उनसे आशीर्वाद माँगते।

भक्त और भगवान् इन दोनों के मिलने से एक होता है। एक को छोड़कर दूसरे की धारणा नहीं हो सकती।

मथुरामोहन ने धन के बीच मन को कभी संकुचित नहीं किया। इष्टदेव पर निर्भर हो प्रत्येक कर्तव्य को निभाया। उनका जीवन श्रीरामकृष्ण को समर्पित था। उन्होंने हृदय से एक बार कहा था, "हृदू, मेरे स्त्री-पुत्र, विषय-सम्पत्ति सब मिथ्या हैं, केवल श्रीरामकृष्ण ही सत्य हैं!"

मथुरामोहन के निधन के पश्चात् एक भक्त ने श्रीरामकृष्ण से पूछा, "मथुरामोहन का क्या हुआ? यह शायद उनका अन्तिम जन्म था। उन्हें तो अब जन्म नहीं लेना पड़ेगा?"

श्रीरामकृष्ण बड़ी भुवनमोहिनी हँसी हँसे, बोले—"उसमें भोग-वासना बची थी। हो सकता है कहीं राजा होकर जन्म लिया हो।"

कुछ क्षणों के लिए शान्त रहने के बाद फिर बोले, "सेजोबाबू ने मेरी कैसी सेवा की है! आन्तरिकता न होने पर क्या मनुष्य ऐसी सेवा कर सकता है? उसने विश्वास का खूँटा पकड़ रखा था। उस खूँटे को उसने नहीं छोड़ा। श्रीराम पर हनुमानजी का जैसे अटूट विश्वास था, उसी तरह उसका मुझ पर था।

"एक समय किसी मुकदमे में पड़ गया था। मेरे पास आकर बोला, 'बाबा, यह अर्घ्य तुम मेरी ओर से

माँ को निवेदित कर दो ।'

"उदार मन से मैंने वह अर्घ्य माँ के चरणों में दिया । सेजोबाबू का चेहरा खुशी से चमक उठा । सोचा, मेरे द्वारा अर्घ्य देने से ही काम हो जाएगा । ऐसा न होने पर फिर विश्वास क्या हुआ ?

"मथुर योगभ्रष्ट था । परमपुरुष का चिन्तन करते-करते उसे भोग की कामना हुई थी । इसीलिए उसने यह जन्म लिया था ।"

मथुरामोहन का समस्त अन्त:करण श्रीरामकृष्ण मय था । वे श्रीरामकृष्ण से कहते थे, "तुम्हारे भीतर ईश्वर को छोड़ और कुछ नहीं है ।"

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने माँ से प्रार्थना की थी—"माँ, मुझे रसद्दार चाहिए ।" और माँ ने भेज दिया । मथुर ही उनमें प्रथम एवं अग्रणी थे ।

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने मथुरामोहन से कहा—"देखो, माँ ने मुझे सब दिखाकर समझा दिया है । यहाँ बहुत सारे अन्तरंग आएँगे । यहाँ से ही सब ईश्वरीय विषय जानेंगे, समझेंगे, प्रत्यक्ष करेंगे । प्रेम-भक्ति अर्जित करेंगे । इस शरीर द्वारा माँ अनेक खेल खेलेंगी । बहुतों का उपकार होगा । शायद इसीलिए उन्होंने अभी तक इस देह को तोड़ा नहीं है, रख दिया है । तुम क्या कहते हो ? यह सब क्या मेरे मस्तिष्क का गोलमाल है, न ठीक देख रहा हूँ । बोलो न !"

"तुम्हें भ्रम क्यों होगा, बाबा ! माँ ने आज तक तुम्हें गलत नहीं दिखाया है, फिर यह क्यों गलत होगा ? और वे लोग कोई आएँ या न आएँ, बाबा, मैं तो तुम्हारा चिरानुगत भक्त रहा हूँ । मैं तो अकेला ही एक सौ भक्तों के

समान हूँ, है न ?"

"क्या जानूँ, बाबू ! वे लोग कब आएँगे। माँ ने तो कहा है, दिखाया है। माँ की इच्छा से ही सब होता है।"

मथुरामोहन ने पन्द्रह वर्षों की दीर्घ अवधि तक श्रीरामकृष्ण की सेवा की। एक ओर वे जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण की दैवीशक्ति पर निर्भर रहते थे, दूसरी ओर वैसे ही उन्हें बालक के रूप में देखते हुए उनकी रक्षा हेतु सदैव प्रस्तुत रहते थे।

मथुरामोहन ने सांसारिक सभी विषयों में, यहाँ तक कि शारीरिक सुरक्षा आदि के सम्बन्ध में भी, अनुभव किया था कि उन्हें बाबा की हर दृष्टि से रक्षा करनी होगी। उनकी दृढ़ धारणा थी कि सभी भौतिक और पारमार्थिक विषयों में श्रीरामकृष्ण उनकी रक्षा करेंगे।

मथुरामोहन के निधन के पश्चात श्रीमाँ सारदा दक्षिणेश्वर आयीं।

"इतने दिनों में तुम आयीं ! अब क्या मेरा सेजो-बाबू हैं !"—श्रीरामकृष्ण के कण्ठ में विषाद का स्वर हैं। बात तो सामान्य दो-टूक थी, किन्तु इसी से उनके मर्म की बात व्यक्त हो गयी।

मथुरामोहन का इहलौकिक कार्य समाप्त हुआ। श्रीरामकृष्ण की कृपा से वे अजर-अमर हो गये। मर्त्यलोक में देवालय की प्रतिष्ठा करने के लिए करुणामयी रासमणि आयीं। वे देवता का लीलाक्षेत्र प्रस्तुत कर चली गयीं। रह गये मथुरामोहन, रसद्दार के रूप में, सेवक के रूप में, भक्त के रूप म। उनका जितना कार्य था, पूर्ण हो गया। अब जो आएँगे, वे लीला के शेष पर्व को पूरा करेंगे।

○

(समाप्त)

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें:—योगीन्द्रमोहिनी विश्वास

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के सन्यासी हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके अगस्त १९७९ अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है।—स०)

श्रीरामकृष्ण की बलराम बोस[1] के मकान की कई यात्राओं में से एक में योगीन्द्रमोहिनी पहली बार उनके दर्शन के लिए वहाँ आयी थी। यह १८८२ के उत्तरार्ध[2]

---

१. अक्षय कुमार सेन की 'श्रीश्रीरामकृष्ण पुँथि' (बँगला) (कलकत्ता उद्बोधन कार्यालय का पंचम संस्करण), पृ. ३०४ तथा Disciples of Shri Ramakrishna (कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, १९५५), पृ. ४७१ के अनुसार प्रथम मुलाकात दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में हुई थी।

२. आध्यात्मिक उच्चावस्थाप्राप्त अरियादह के विष्णु नामक युवक ने आत्महत्या कर ली थी और इस विषय पर १४ दिसम्बर, १८८२ को दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण ने चर्चा की थी। श्रीमाँ सारदादेवी के कथनानुसार उस समय योगीन्द्र दक्षिणेश्वर में नौबत में मौजूद थीं। तथापि कई लोगों का मत है कि भेंट १८८३ में हुई थी। देखें, 'At Holy Mothers Feet, by Her Direct Disciples (कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, १९६३) पृ. २६४।

की बात होगी। कलकत्ते में श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में अक्सर चर्चाएँ हुआ करतीं और बागबाजार के उस क्षेत्र में विशेषरूप से, जहाँ योगीन्द्रमोहिनी रहा करती। यद्यपि श्रीरामकृष्ण के परमभक्त बलराम बोस से दूर के रिश्ते में वह कुछ लगती थी, पर उसने सम्भवत: श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में अपने अन्य नजदीकी रिश्तेदारों से सुना था, क्योंकि एक बार उसकी धर्मपरायणा दादी सन्त के दर्शन करने दक्षिणेश्वर के मन्दिर में गयी थीं। कहा जाता है कि श्रीरामकृष्ण की सादी वेशभूषा और व्यवहार ने उनको भ्रम में डाल दिया था। वे अनजान में श्रीरामकृष्ण से मिल गयीं और उन्हीं से पूछने लगीं कि "परमहंस कहाँ हैं?" ऐसा लगता है कि श्रीरामकृष्ण उस समय भावावस्था में थे इसलिए उन्होंने अपना परिचय नहीं दिया था।

बत्तीस वर्षीया योगीन्द्रमोहिनी 'असाधारण सौन्दर्य और गरिमामय व्यक्तित्व से सम्पन्न थी, जिससे उसके चरित्र की विरल उदात्तता प्रतिबिम्बित होती'।[3] 'वह देखने और व्यवहार में राजपरिवार की लगती।'[४] 'कमल सदृश चमक से भरे नेत्र, छोटे कद का भारी शरीर, गौर-वर्ण कान्ति से युक्त वह दूरदर्शी तथा सन्तुलित निर्णय

३. भगिनी दयामाता: 'Shri Ramakrishna and His Disciples' (ला क्रेसेन्टा, कैलिफोर्निया; आनन्द आश्रम, १९२८), पृ. ११८।

४. स्वामी निखिलानन्द : 'Holy Mother' (न्यूयार्क, रामकृष्ण विवेकानन्द सेंटर, १९६२), पृ. ६०।

लेनेवाली थी।'[५] उस दिन बलरामबाबू के यहाँ पैंतालीस वर्षीय श्रीरामकृष्ण भावावस्था में शराबी की तरह लड़खड़ा रहे थे। एक नवागन्तुका के लिए इस भगवत्प्रेम में पगे आदमी और एक शराबी में अन्तर करना मुश्किल था। बाद में अपनी पहली भेंट के सम्बन्ध में उसने बतलाया था--"एक दिन ठाकुर बलरामबाबू के यहाँ आये थे और हम लोग उनके दर्शन के लिए गये थे। यह मेरी पहली भेंट थी। ऊपर हाल के एक कोने में ठाकुर दैवीभाव में डूबे हुए खड़े थे। बाह्यज्ञान लुप्त हो उन्हें गहरी समाधि लगी हुई थी। सब लोग दूर से उन्हें प्रणाम कर रहे थे। हम लोगों ने भी ऐसा ही किया। तब तक समाधि के सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं जानती थी, न ही उसके महत्त्व को समझ सकती थी। इतना मात्र मैं अन्दाज लगा सकी कि वे काली के भक्त हैं। परन्तु वे शराबी की भाँति मत्त लग रहे थे। . . .पहले एक विचार मेरे मन में कौंधा--पहले ही एक शराबी ने मेरा जीवन बरबाद कर रखा है, अब क्या मेरा आध्यात्मिक जीवन भी एक दूसरे शराबी द्वारा नष्ट हो जायगा? वह मानो रक्तवर्ण बादल को देखकर भयभीत होने जैसा था।"[६] चूँकि जीवन के कटु अनुभवों ने उसके आत्मविश्वास, उदार दृष्टिकोण, विश्वास और आशाओं को चूर-चूर कर दिया था, इसलिए अपने चारों ओर की घटनाओं और लोगों में सदाशयता और सुख-समाचार देखना वह लगभग भूल गयी थी।

---

५. स्वामी निर्लेपानन्द : 'योगीन-माँ', प्रबुद्ध भारत, जुलाई, १९४२ पृ. ३४१।

६. लक्ष्मीमणि देवी और योगीन्द्रमोहिनी : 'श्रीरामकृष्ण स्मृति' (बँगला) (कलकत्ता : उद्बोधन कार्यालय), तृतीय संस्करण।

स्पष्ट ही वह सन्त की भावावस्था से प्रभावित न हो सकी, विशेषकर जब उसका उसी प्रकार का रूप दिखायी दिया, जिसने उसके जीवन को दुःखमय बना दिया था। वह निराश होकर ही घर लौटी।

योगीन्द्र को अन्दाज न था कि श्रीरामकृष्ण का प्रभाव उसके जीवन पर पड़ना शुरू हो गया है और इस गहराई के साथ पड़ रहा है, जिसकी वह कल्पना भी नहीं कर सकती थी। श्रीरामकृष्ण से पहली भेंट ने उसके जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव डाला था। श्रीरामकृष्ण का आध्यात्मिक आलोक से दीप्त मुखमण्डल उसके मानसपटल पर उभरता रहता। धीरे-धीरे सन्त के पुनर्दर्शन की इच्छा उसके भीतर तीव्र हो उठी; और दूसरी मुलाकात के बाद उसने बार-बार दर्शनों के लिए जाना प्रारम्भ कर दिया। कई भेंटों और घनिष्ठ सम्पर्क के बाद पहली मुलाकात में हुई उसकी गलतफहमी दूर हो गयी। श्रीरामकृष्ण के जीवन की आडम्बरशून्यता, पाखण्डरहित चरित्र, बच्चों-जैसी सरलता, पर साथ ही सागर-जैसी गम्भीरता देख वह आनन्द और अचरज से भर उठी।

श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक दृष्टि इतनी गहरी थी कि पहली ही नजर में उन्होंने नवागन्तुका के अन्तस्तल को अच्छी तरह देख उसकी आध्यात्मिक ऊँचाई और सम्भावनाओं को परख लिया था। श्रीरामकृष्ण का बाद में कहा गया कथन कि "योगीन सामान्य स्त्री नहीं है—वह सहस्रदल पद्म की कली है, जो धीरे-धीरे प्रस्फुटित हो अपने सौन्दर्य और सुरभि से सबको मुग्ध कर देगी'—उस कहानी को उजागर करता है कि किस प्रकार महान् गुरु

श्रीरामकृष्णदेव के मार्गदर्शन में योगीन्द्रमोहिनी के जीवन में आध्यात्मिक विकास साधित हुआ था।

पाकशास्त्र में निपुण योगीन्द्र कभी-कभी कोई पकवान बनाकर श्रीरामकृष्ण के लिए ले जाती और वे भी बालक के समान आनन्दित हो उसे खाते। जब भी वह श्रीरामकृष्ण से विदा लेती, वे उसे 'फिर आना' कहकर विदा देते।

ठाकुर के मार्गदर्शन में योगीन्द्रमोहिनी धीरे-धीरे आध्यात्मिक रूप से इतनी समुन्नत हो उठी कि श्रीराम-कृष्ण के स्त्री-भक्तों में वह 'सच्ची ज्ञानी'[७] कहलाने लगी। श्रीरामकृष्ण के मुख से निकली उपर्युक्त बात ही योगीन्द्र-मोहिनी की आध्यात्मिक अवस्था का सबसे बढ़कर प्रमाण है।

बागबाजार के सम्पन्न चिकित्सक और कलकत्ता मेडिकल कालेज के व्याख्याता प्रसन्नकुमार मित्रा के घर ५९, बागबाजार स्ट्रीट, कलकत्ता[८] में १६ जनवरी, १८५१ को योगीन्द्रमोहिनी का जन्म हुआ था। प्रसन्न-कुमार मित्रा ने धाय-कार्य में अच्छा नाम कमाया था। यद्यपि योगीन्द्र का जन्म उसके व्यक्तित्व की गहरी रहस्य-मयता को लेकर हुआ था, फिर भी उसके लालन-पालन में उसकी धर्मनिष्ठ माता, डा० मित्रा की द्वितीय पत्नी, की जीवन्त देखरेख को नहीं भुलाया जा सकता। उस समय की प्रचलित सामाजिक प्रथा के अनुसार साढ़े छह

७. 'महिला-भक्तों में योगीन ज्ञानी है।' देखें 'योगीन-माँ', लेखक स्वामी अरूपानन्द, उद्बोधन, २९वाँ भाग, अंक ६, पृ. ३७०।

८. स्वामी निर्लेपानन्द : 'योगीन-माँ', प्रबुद्ध भारत, जून १९४२, पृ. २९४-५।

वर्ष की उम्र में ही योगीन्द्र का विवाह खड़दह, २४परगना के प्रसिद्ध दानवीर जमींदार परिवार के दत्तक पुत्र अम्बिकाचरण विश्वास के साथ कर दिया गया । पर परिवार के लिए, विशेषकर युवती योगीन्द्र के लिए, यह अत्यन्त निराशा की बात हुई कि अम्बिका आलसी, रंगीन-मिजाज और उड़ाऊ किस्म का निकला तथा अपनी श्रद्धालु पत्नी के प्रेम के बदले उसने उसे सिर्फ तिरस्कार ही दिया । अम्बिका में किसी प्रकार का सुधार लाने में वह असफल रही । वह नैतिक रूप से भ्रष्ट होकर तथा सम्पत्ति लुटाकर कंगाल हो गया । इससे परिवार टूट गया । योगीन्द्र के एक पुत्र हुआ था, जो छह मास का होकर नहीं रहा तथा एक पुत्री थी जो प्यार से 'गनु' कहलाती थी । पति के दुराचारी स्वभाव के विपरीत योगीन्द्र के स्वभाव में विलक्षण शान्तता तथा गरिमा थी । उसने सदाचरण करते हुए बहुत मितव्ययता के साथ पति के घर में रहने का अभ्यास किया । वहाँ चारों तरफ अपव्यय और लम्पटता का वातावरण था । जैसे ही उसकी पुत्री 'गनु' का विवाह हुआ, उसने एक कड़ा कदम उठाया—ससुराल में अपमान और अनाचार के साथ समझौता करने की बजाय उसने अपने पित्रालय बागबाजार में सदा के लिए शरण लेना ज्यादा श्रेयस्कर समझा । वैसे पिता डा० मित्रा का देहावसान हो गया था, पर स्नेहिल माता ने उसको अपना लिया । एक बार सही स्थान से भटक जाने से उसकी जीवन-नौका इन कई वर्षों तक पीड़ा और लांछना की नदी में भटकती रही थी । अब नयी लहर आनेवाली थी और यह अत्यन्त अप्रत्याशित रूप से होनेवाला था ।

इस नयी लहर के ऊपर युगावतार श्रीरामकृष्ण अवस्थित थे। उन्होंने अपनी अपूर्व मेधा और विलक्षण विशाल हृदय द्वारा युग के वर्तमान और गौरवमय भविष्य के लिए हृदय और मस्तिष्क के सामंजस्य का एक सार्वजनीन धर्म प्रस्तुत किया था। अपने जीवन के प्रत्यक्ष उदाहरण से उन्होंने दिखला दिया था कि अलग-अलग समय के, अलग-अलग जाति के लोगों की अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि, प्रवृत्ति और सामाजिक परिवेश की विभिन्नता के बावजूद, वही एक आध्यात्मिक परमतत्त्व उन सबके सामने अनन्त प्रभा से युक्त और परम आनन्ददायक रूप में प्रकट होता है। यद्यपि श्रीरामकृष्ण के मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति उस चरम सत्य के एकत्ववाली अद्वैतभूमि में अवस्थित रहने की थी, पर वे अपने मन को नीचे खींचे रखते और सच्चिदानन्द-सागर में परमहंस की भाँति विचरते, जिससे अपने आसपास के भक्तों को उस आध्यात्मिक आनन्द के उपभोग में सहभागी बना सकें। उनमें यह अपूर्व क्षमता थी कि वे दूसरे के अन्तस्तल की गहराई को परख लेते, जिससे उसके मानस की संरचना को दूर तक जान जाते। उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में वे 'सब (अवतारों) की अपेक्षा आधुनिक और पूर्ण' थे--'ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, उदारता और लोकहित के मूर्तिमान स्वरूप' थे।[१]

श्रीरामकृष्ण ने इस बात की आवश्यकता पर जोर दिया कि नारीमात्र को जगन्माता का रूप मानो।

---

१. 'विवेकानन्द साहित्य', जन्मशती संस्करण, १९६३, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, खण्ड ३, पृ. ३६०।

जगन्माता ही मानो श्रीरामकृष्ण की देह और मन द्वारा लीला कर रही थीं। उनका विवाह सारदादेवी से हुआ था। सारदादेवी ने भी ईश्वर को जगन्माता के रूप में अनुभव किया था और अपने 'पति' में भी उन्हीं की अनुभूति की। वे एक दूसरे में जगन्माता का ही अनुभव करते।

अपने सांसारिक जीवन के समस्त उतार-चढ़ाव में रहते हुए योगीन्द्र ने इस सन्त के चिन्तन में लगे रहने की चेष्टा की। जब उसने अपने हृदय को उनके शान्त और सूक्ष्म प्रभाव के लिए उन्मुक्त कर दिया, तो उससे उसे अपने आन्तरिक जीवन को सँभालने में सहायता मिली और कुछ शान्ति तथा राहत की अनुभूति हुई।

फिर भी सांसारिक झमेलों से त्रस्त योगीन्द्र एक दिन इतनी बेचैन हो उठी कि उसने जल्द दक्षिणेश्वर जाकर अपनी अन्दरूनी समस्याओं और रहस्यों को सन्त को बतलाने का निश्चय किया। दूसरे दिन बड़ी सुबह सारा रास्ता पैदल चल जब वह दक्षिणेश्वर पहुँची, तब श्रीरामकृष्ण के दर्शन से ही उसे लगा कि उसका सारा अवसाद आश्चर्यजनक रूप से मिट गया है। बाद में उसने बगीचे से कुछ फूल चुनकर अपनी साड़ी के आँचल में बाँध लिये। आध्यात्मिक करुणा से प्रेरित हो श्रीरामकृष्ण ने, जो उस समय अपने कमरे के उत्तरी बरामद की दीवाल से टिके बैठे थे, उसे पास से जाते देख मृदु कण्ठ से पूछा, "बेटी, तुम क्या ले जा रही हो?" उसने उन्हें फूल दिखलाये और फिर पास आकर उनके चरणों में वे फूल चढ़ा दिये। भक्तिभाव से की गयी इस पूजा ने श्रीरामकृष्ण के भीतर उच्च भाव पैदा कर दिया। वे दिव्यभाव में आरूढ़ हो गये और उन्होंने अपने चरण योगीन्द्र के सिर

पर रख दिये। गोपाल की माँ वहीं पर थीं। वे श्रीराम-कृष्ण की गोपाल-भाव से सेवा करती थीं। उनके सुझाव से योगीन्द्र ने श्रीरामकृष्ण के चरणकमल अपने हृदय से लगा लिये। इससे उसे कुछ आध्यात्मिक आवेग-सा अनुभव हुआ और यह विश्वास हो गया कि विष्णु गदाधर के चरणकमलों की छाप उसके हृदय में आसीन हो गयी है।[१०]

बाद में उसने श्रीरामकृष्ण के पास आगमन के समय होनेवाले एक विशेष अनुभव की बात लिखी थी---"प्राय: मुझे ऐसा लगता कि मैं उनके पास मन की किन्हीं विशेष उलझनों को लेकर गयी हूँ और आश्चर्यजनक रूप से वैसे या उनसे मिलते-जुलते प्रश्न कोई दूसरा उनसे पूछ बैठता और वे उनका जो समाधान देते, उससे मेरे भी सब संशय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मिट जाते। सचमुच वे अन्तर्यामी थे।"

कुछ भेंटों के बाद उसका परिचय सारदादेवी से करा दिया गया, जो प्राय: उसी की उम्र की थीं। उन दोनों में एक दूसरे के लिए बहुत गहरी आंतरिकता और स्नेह-भाव बन गया। उन दिनों की याद करके योगीन्द्र-मोहिनी कहती थी---"जब भी मैं माँ के पास जाती, वे मुझे अपने विश्वास में ले लेतीं और सलाह माँगतीं। मैं सात-आठ दिन के अन्तर से दक्षिणेश्वर जाती और कभी रात भी वहीं बिताती। माँ मुझे अलग नहीं सोने देतीं,

---

१०. स्वामी सारदानन्द : 'भगवान् श्रीश्रीरामकृष्णदेव', बँगला (कलकत्ता : उद्बोधन कार्यालय, बंगाब्द १३५२), पृ. ७।

वे मुझे अपने पास नौबत में ही सुलाती।"[११]

योगीन्द्रमोहिनी के लिए सारदादेवी गहरी आध्यात्मिकता और सांसारिक कर्तव्य-निर्वाह के समन्वय का आदर्श थीं। दक्षिणेश्वर के वे दिन अद्भुत आह्लाद के दिन थे। सारदादेवी और उनकी संगिनियाँ नौबत के चारों ओर लगी चिक के पीछे घण्टों खड़ी होकर भक्तों को लेकर श्रीरामकृष्ण की आनन्द-लीलाएँ देखती रहतीं। वह सारदादेवी को घर के कामकाज में सहायता देती। सारदादेवी योगीन्द्र द्वारा बनाया जूड़ा इतना पसन्द करतीं कि तीन-चार दिन तक फिर से उसके आने की बाट देखते हुए जूड़े को न खोलतीं। इसके साथ ही योगीन्द्र एकान्त में आध्यात्मिक साधना करती रहती। गहरे ध्यान में अपने मन को डुबोने में योगीन्द्र का इतना अभ्यास हो गया था कि एक बार सारदादेवी ने कहा था, "योगेन की ओर देखो। उन दिनों वह इतने गहरे ध्यान में डूब जाती थी कि यदि आँख के भीतर मक्खी भी घुस जाए तो भी उसे उसका पता नहीं चलता था।"[१२] सचमुच योगीन्द्रमोहिनी के लिए वे आनन्द के दिन थे और इसीलिए परवर्तीकाल में वह कहा करती, "उस आनन्द को शब्दों में नहीं व्यक्त किया जा सकता। उसका विचार-मात्र ही अब मेरे हृदय को भर देता है।"[१३]

---

११. स्वामी माधवानन्द एवं रमेशचन्द्र मजूमदार द्वारा सम्पादित 'Great Women of India' (कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, १९५३), पृ. ४४३।

१२. Direct Disciples : 'At Holy Mother's Feet', पृ. ३०४।

१३. वहीं, पृ. २८९-९०।

श्रीरामकृष्ण और सारदादेवी सूरज तथा चाँद की भाँति योगीन्द्रमोहिनी के जीवन को धीरे-धीरे गढ़ रहे थे, उसके भीतर की दिव्यता को कई रूपों में बाहर प्रकट कर रहे थे। ससुराल में कुलगुरु से लिये योगीन्द्रमोहिनी के मंत्र को श्रीरामकृष्ण ने अपनी पुष्टि देकर प्राणवान् बना दिया था। जो मंत्र एक समय निर्जीव था, अब वह चमत्कार दिखा रहा था--अकथनीय आनन्द दे रहा था। योगीन्द्र के सामने जीवन का एक नया क्षेत्र खुल गया था। एक दिन भावावस्था में ठाकुर ने अपनी ओर उँगली दिखाकर उससे कहा था, "देखो, तुम्हारे जो इष्ट हैं, वे इसके भीतर हैं। इसे सोचने से ही वे स्मरण में आवेंगे।"[१४] और साक्षात् अनुभव ने श्रीरामकृष्ण की इस बात की सत्यता को सिद्ध कर दिया। उन्होंने उसे जप, ध्यान आदि की विधि सिखलायी थी। एक दिन जब वह श्रीरामकृष्ण के साथ नाव में जा रही थी, तब उन्होंने कहा, "अरी, उन पर अपना भार क्यों नहीं सौंप देतीं ? आँधी आने पर जूठी पत्तल की तरह पड़े रहना पड़ता है. . .। उसी तरह उन पर अपना सारा भार सौंपकर पड़े रहना पड़ता है--चैतन्यवायु मन को जिधर फिराना चाहे, उधर ही फिरना चाहिए, बस इतना ही।"[१५]

उसने भी श्रीरामकृष्ण और उसके बाद सारदादेवी की सेवा की। वह उनकी बातों को बिना कोई प्रश्न किये

---

१४. स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्रीरामकृष्ण भक्तमालिका' (रामकृष्ण मठ, नागपुर), भाग २, पृ. ५२१।

१५. स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भाग २, पृ. ४३९ (रामकृष्ण मठ, नागपुर, प्रथम संस्करण)।

आदेश समझती थी। उनकी थोड़ी-सी सद्भावना भी उसके लिए बहुत बड़ी कृपा थी। जब से एक दर्शन द्वारा श्रीरामकृष्ण ने उसे समझा दिया था, तब से वह श्रीरामकृष्ण और सारदादेवी को अभिन्न मानती थी।'[१६]

श्रीरामकृष्ण द्वारा उत्साहित हो उसने भक्तिशास्त्रों को पढ़ना शुरू किया। अच्छी स्मरणशक्ति होने के कारण उसे कई पुराण, रामायण, महाभारत और चैतन्यमहाप्रभु का जीवन-चरित्र कण्ठस्थ हो गया। उसका अध्ययन इतना प्रामाणिक था कि भगिनी निवेदिता ने अपनी पुस्तक 'Cradle Tales of Hinduism' की प्रस्तावना में लिखा है कि उन (योगीन्द्र) की "धर्मग्रन्थों के अध्ययन की गहराई और जानकारी की बराबरी उनकी नयी विद्यार्थिनी (निवेदिता-जैसी) को सदा सहायता देने की तत्परता से की जा सकती है।" योगीन्द्र बागबाजार में स्थित निवेदिता स्कूल की महिलाओं के (२ नवम्बर, १९०३ को प्रारम्भ हुए) विभाग में गीता-जैसे धार्मिक विषयों की कक्षा भी लेती थी।[१७]

श्रीरामकृष्ण और सारदादेवी के आध्यात्मिकतापूर्ण जीवन ने स्वाभाविक ही योगीन्द्र को और भी अधिक गहरी आध्यात्मिक साधनाओं के लिए प्रेरित किया। उसने अपने को कई प्रकार की तपस्याओं और साधनाओं

---

१६. 'भक्तमालिका', भाग २, पृ. ५२७।

१७. प्रव्राजिका आत्मप्राणा : 'Sister Nivedita' (कलकत्ता : भगिनी निवेदिता कन्याशाला, १९६३) पृ० १५३; तथा शंकरी प्रसाद बसु, 'निवेदिता लोकमाता', (बँगला) (कलकत्ता : आनन्द पब्लिशर्स), पृ. २३४।

में लगा दिया, जिसके फलस्वरूप जीवन के ध्येय की ओर उसकी प्रगति तीव्रता से होने लगी। श्रीरामकृष्ण ने मुसकराते हुए सच्ची निष्ठा के प्रभाव की ओर उसका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा था, "तुम्हारे द्वारा अब और क्या पाना शेष रहा ? (अपनी ओर दिखाकर) तुमने इसे देखा है, इसको खिलाया है और इसकी सेवा की है।"[१८] वास्तव में उसमें श्रीरामकृष्ण के प्रति इस प्रकार का काफी गहरा विश्वास हो गया था। जब वे उसके घर २८ जुलाई १८८५ को गये, तब उसने उनसे प्रार्थना की थी कि कृपा कर वे उसके सोने से कमरे म भी पधारें जिससे उनकी चरणधूलि पड़कर उसका घर काशी-जैसा पावन बन जाय, ताकि जब वह वहाँ मरे तो उसकी मुक्ति हो जाय।[१९] इस सबके बावजूद श्रीरामकृष्ण ने आध्यात्मिक रस में पग जाने के लिए योगीन्द्र के मन में तपस्या करने की तीव्र आकांक्षा जगा दी, जिससे जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में उसकी सब भ्रान्त धारणाएँ मिट जायँ, सारे संशय निकल जायँ और जीवन के लक्ष्य के प्रति अटूट निष्ठा बन जाय। इस प्रकार तैयार हो, वह आध्यात्मिकता के पथ पर लगातार प्रगति करती चली गयी। इसके साथ ही उन्होंने उसे निष्काम भाव से सवा करना भी सिखाया, जिससे उसका नैतिक चरित्र मजबूत हो सके तथा सारदादेवी की स्नेहछाया और निदशन में दुःखी लोगों के, विशेषकर नारी-जाति के, दुःख के मोचन के लिए अग्रणी बन सके।

---

१८. 'Disciples of Shri Ramakrishna', पृ. ४७२।

१९. श्री 'म' : 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भाग ३, पृ. २४१ (रामकृष्ण मठ, नागपुर, द्वितीय संस्करण)।

एक दिन उसके पास समाचार आया कि उसके शराबी पति अम्बिकाचरण को पागल कुत्ते ने काट लिया है। उसे योगीन्द्र के पित्रालय में लाया गया। पर चिकित्सा और श्रद्धालु पत्नी की अच्छी सेवा के बावजूद उसे अधिक दिन तक नहीं बचाया जा सका। अपने जीवन की पुरानी कटु स्मृतियों से भरी और अब पति के बिछोह के दुःख से पीड़ित योगीन्द्र सम्भवतः ठाकुर की बीमारी की भीपणता का अनुमान नहीं कर सकी थी। इसीलिए उसने वृन्दावन जाकर कठोर तपस्या करने की सोची, जबकि उस समय श्रीरामकृष्ण काशीपुर में गले की व्याधि से गम्भीर रूप से पीड़ित थे। जब उसने श्रीरामकृष्ण के पास जाकर अनुमति माँगी, तो उन्होंने उसे उत्साहित किया। पास में खड़ी सारदादेवी की ओर दृष्टि डाल श्रीरामकृष्ण ने योगीन्द्र से कहा, "बेटी, उसे राजी करके जाना, तुम्हें सब कुछ मिल जायगा।" दूसरे दिन योगीन्द्र ने आकर ठाकुर और माँ सारदा से आशीर्वाद ले वृन्दावन के लिए प्रस्थान किया।[२०]

यद्यपि वह अपनी तपस्या में डूबी हुई थी, पर कलकत्ता में श्रीरामकृष्ण की महासमाधि का समाचार पा उसे गहरा धक्का लगा। शीघ्र ही वह सारदादेवी से वृन्दावन में मिलित हुई। वे दोनों मिल जब श्रीरामकृष्ण के चले जाने के दुःख से दुखित हो विलाप कर रही थीं, तब एक दिन श्रीरामकृष्ण ने दर्शन देकर कहा था, "मैं तो यहीं हूँ। गया कहाँ हूँ? यह तो मानो केवल एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने जैसा है।" अब उच्चतर ज्ञान-लाभ की

२०. स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्रीमाँ सारदादेवी' (अद्वैत आश्रम, मायावती, द्वितीय संस्करण), पृ. १६७।

तीव्र आकांक्षा योगीन्द्र को अनमोल आध्यात्मिक अनुभूति की ओर ले गयी। एक दिन लालाबाबू के मन्दिर में उसे समाधि लग गयी, जिसको स्वीकारते हुए उसने कहा था, "उस समय मेरा मन गहरे ध्यान में इतना डूब गया था कि मैं संसार के अस्तित्व को पूरी तरह भूल गयी थी। . . . मैं अपने इष्ट की उपस्थिति सर्वत्र देख सकती थी। ऐसी अवस्था तीन दिन तक बनी रही थी।"[२१] वास्तव में उसका जीवन उपवास और तपस्या से भरा था। माँ सारदा के संग में उसने भी पंचतपा किया था। उसने स्वामी सारदानन्दजी से पुरी में संन्यासदीक्षा ली थी, पर सिर्फ पूजा के समय गेरुआ वस्त्र धारण करती थी। एक दिन ध्यान करते समय बलराम और कृष्ण के कई बार दर्शन से वह धन्य हुई थी; परन्तु उसके शीघ्र बाद ही, विशेषकर एकमात्र पुत्री गनु के मरणोपरान्त, इस प्रकार के दर्शन मिलने बन्द हो गये। उसके बाद उसे अपना बहुत-सा समय अपने तीन नातियों की सेवा में लगाना पड़ता था। इन सांसारिक जिम्मेदारियों के बावजूद उसने अपनी तपस्यावृत्ति को वैसी ही एकनिष्ठ श्रद्धा के साथ अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक बनाये रखा।

आध्यात्मिक अनुभवों के आनन्द को छोड़ उसके जीवन के अधिकांश भाग की कहानी सम्भवतः दुःख और पीड़ा की ही गाथा है। १९०६ में उसकी एकमात्र कन्या विधवा हो गयी, और तीन साल बाद एक नाती की

२१. 'Women Saints of East and West' (लन्दन : दि रामकृष्ण वेदान्त सेण्टर, १९५५), पृ. १३१।

मृत्यु हो गयी। उसके शीघ्र बाद कन्या का भी देहावसान हो गया। उसका अधिकांश समय अब तीन नातियों के पालन-पोषण तथा अपनी वृद्धा माता की सेवा में ही बीतता। उसने १९१४ में अपनी वृद्धा माता की मृत्यु देखी।

उसके अन्तस्तल की गहराइयों में सांसारिक लगाव के जो कण पैठे रहे होंगे, निकटस्थ सम्बन्धियों की एक के बाद एक मृत्यु ने उनका शोधन कर दिया। इससे उसको न सिर्फ असीम सहनशक्ति और दृढ़ मानसिक बल मिला, बल्कि गहरे दिव्य भाव को जगाने और सर्वोच्च ज्ञान-प्राप्ति में सहायता भी मिली।

श्रीरामकृष्ण-जैसे आध्यात्मिक रत्नपारखी ने जो रत्न अपने आसपास इकट्ठे किये थे, उनमें सर्वोत्तम रत्नों में से एक योगीन्द्रमोहिनी थी, जिसे भक्त लोग श्रद्धा से योगीन-माँ कहकर पुकारते। किसी बात को जल्दी समझने की कला में, दु:खी लोगों की पीड़ा के प्रति गहरी सहानुभूति में तथा सर्वोपरि माँ सारदा की जया[22] के समान संगिनी के रूप में उसकी भूमिका विशिष्ट थी। माँ सारदा उससे इतना स्नेह और अपनत्व रखतीं कि सिर्फ रोजमर्रे की समस्याओं में ही नहीं बल्कि मंत्र और आध्यात्मिक बातों में भी उसकी सलाह लेतीं।[23] उसकी

२२. सारदादेवी योगीन्द्र का उल्लेख 'मेरी जया' कहकर करतीं। जगन्माता दुर्गा की दो सहायिकाओं में जया एक है, दूसरी है विजया।

२३. स्वामी निर्लेपानन्द : 'योगीन-माँ', प्रबुद्ध भारत, जुलाई १९४२, पृ. ३४१।

पवित्रता, विनम्रता, सहृदयता, कठोर साधना, शान्त और गम्भीर स्वभाव तथा श्रीरामकृष्ण के भक्तों के प्रति वात्सल्यभाव ने उसे सबका प्रिय बना दिया था। उत्साही हिन्दू होने पर भी वह अपने दृष्टिकोण में उदार थी। उसके भीतर 'नये धार्मिक भाव या विचार में तुरन्त प्रवेश करने की जो क्षमता थी', भगिनी निवेदिता ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।[२४]

एक सांसारिक नारी से एक उच्च आध्यात्मिक सिद्ध के रूप में परिवर्तित हो, योगीन-माँ ने आध्यात्मिक विकास की कठिन उच्चताओं को प्राप्त किया था। अपने कलकत्ता के निवास-स्थान में भी एक बार उन्होंने समाधि प्राप्त की थी।[२५] उनकी एकनिष्ठ भक्ति से प्रसन्न हो श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें आशीर्वाद दिया था कि उनकी मृत्यु महासमाधि द्वारा होगी।[२६] स्वामी विवेकानन्द ने भी भविष्यवाणी की थी, "योगीन-माँ, तुम्हारी मृत्यु समाधि में होगी, क्योंकि एक बार जिसे उस परमानन्द की अवस्था का अनुभव हो जाता है, मृत्यु के समय उसमें उसकी स्मृति पुनः जाग जाती है।" हिन्दू नारी के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने जो आशा बाँध रखी थी, उसकी पूर्ति करने-

२४. 'The Complete Works of Sister Nivedita', चार भागों में (कलकत्ता, भगिनी निवेदिता कन्याशाला), भा. १, पृ. १०७।

२५. स्वामी अरूपानन्द : 'योगीन-माँ', पृ. ३६७।

२६. वैकुण्ठनाथ सान्याल : 'श्रीश्रीरामकृष्णलीलामृत' (बँगला) (कलकत्ता : बसुमति साहित्य मन्दिर, बंगाब्द १३४३), पृ. ३६५।

वाली नारियों में योगीन-माँ एक उत्कृष्ट उदाहरण थीं। स्वामीजी ने अपने एक पत्र में लिखा था, "इस अनुपम शक्ति को भारत में पुन: जाग्रत् करने के लिए माँ (सारदा) का जन्म हुआ है और उन्हें केन्द्र बनाकर फिर से गार्गी और मैत्रेयी-जैसी नारियों का जन्म संसार में होगा।"[२७] इसके बहुत पूर्व ही श्रीरामकृष्ण ने योगीन-माँ के सम्बन्ध में कहा था, "वह कृपासिद्ध गोपी है।"[२८] और इससे शायद यह समझ में आ सके कि उन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधनाओं में इतनी बड़ी सफलता कैसे हासिल की।

माँ सारदा के लीलासंवरण के चार वर्ष बाद ४ जून, १९२४ को योगीन-माँ ने समाधि में अपनी देह छोड़ दी। उनके मधुर जीवन और कार्यों की जो दिव्य छटा है, वह श्रीरामकृष्ण और माँ सारदा के श्रीचरणों में आश्रित सभी भक्तों के लिए सदैव शान्ति और प्रेरणा का स्रोत बनी रहेगी।

२७. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड २, पृ. ३६१।

२८. स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा. २, पृ. ४७४; साथ ही स्वामी सारदानन्द : 'भगवान् श्रीश्रीरामकृष्णदेव' (बँगला), पृ. ४।

O

पवित्रता, धैर्य और अध्यवसाय, इन्हीं तीनों गुणों से सफलता मिलती है, और सर्वोपरि है प्रेम।

—स्वामी विवेकानन्द

विवेकानन्द ने कही कहानी

प्रव्राजिका श्यामाप्राणा

(लेखिका श्री सारदा मठ, दक्षिणेश्वर, कलकत्ता की अन्तेवासिनी हैं। प्रस्तुत लेख में उन्होंने नरेन्द्रनाथ द्वारा सुनायी गयी कुछ कहानियों को हिन्दी पाठकों के लाभार्थ महेन्द्रनाथ दत्त की बँगला संस्मरणात्मक पुस्तक 'स्वामी विवेकानन्देर बाल्य जीवनी' से संकलित कर अनुवादित किया है। ये नरेन्द्रनाथ दत्त ही आगे चलकर विश्व-विख्यात स्वामी विवेकानन्द बने। महेन्द्रनाथ दत्त उनके अनुज थे। इस लेख से इस बात पर अच्छा प्रकाश पड़ता है कि स्वामीजी में बचपन से ही कितनी रसिकता भरी पड़ी थी। —स०)

जब नरेन्द्रनाथ छोटे थे, उस समय की यह घटना है। उस समय वे बड़े-बड़े दो पलंगों को एक साथ मिलाकर बिस्तर बनाते और उस पर सोते थे। पहले नरेन्द्रनाथ, उनके बाज़ू में महेन्द्रनाथ एवं दो छोटी बहनें, फिर नानी और माँ——इस प्रकार सब सोया करते थे। सोने से पूर्व नरेन्द्रनाथ एक तकिये से अपने मुँह को ढककर थोड़ी देर चुपचाप लेटे रहते थे। इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द-जी ने स्वयं सारदानन्दजी को मठ में बताया था कि "सोने के समय बचपन से ही मैं अपनी आँखों के समाने ज्योति-बिन्दुओं को देखा करता था। कभी-कभी वे बिन्दु स्थिर रहते थे और कभी चंचल, इसलिए मैं तकिये से अपना मुँह ढककर सोता था।"

नरेन्द्रनाथ इसी तरह थोड़ी देर लेटे रहते। तब हम सब भाई-बहन एक साथ चिल्ला उठते, "अरे भैया, हमें कहानी सुनाओ न।" बस, हमारा इतना कहना होता कि वे तकिये को दूर फेंक देते और विभिन्न प्रकार की आवाजें निकालते हुए, अभिनय के साथ, हमें बड़ी मजेदार कहानियाँ सुनाते। उनमें से दो-एक कहानियाँ इस प्रकार हैं:—

एक निम्न जाति की बुढ़िया थी। वह बकरी के एक छोटे से बच्चे का बड़े जतन से पालन करती थी। बुढ़िया उसको बहुत प्यार करती। वह उसे प्रत्येक दिन सुबह मैदान में चराने ले जाती और शाम को ले आती। एक दिन एक धूर्त स्वभाव के व्यक्ति ने उस बकरे को चुरा लिया और उसे काटकर खा गया। शाम को जब बुढ़िया बकरे को वापस लाने गयी, तो उसे बकरी का बच्चा न मिला। कुछ दूर एक आदमी खड़ा था। उससे बुढ़िया ने पूछा, "क्या तुमने मेरे बकरे को देखा है?" उसने बुढ़िया को तुरन्त उत्तर दिया, "बहुत आश्चर्य की बात है कि तुम्हारा बकरा अब बकरा-योनि से छुटकारा पा गया है और वह पशु से मनुष्य-जन्म पाकर, काजी साहब बनकर, इजलास (कचहरी) में न्याय-विचार कर रहा है।" यह सुन बुढ़िया हाथ में रस्सी ले काजी के इजलास में गयी। दूर से काजी को देख वह सोचने लगी, "उस आदमी ने ठीक ही कहा। मेरा बकरा काले रंग का था और यह काजी भी काले रंग का है। मेरे बकरे के थोड़ी दाढ़ी थी और इसके भी वैसी ही दाढ़ी है।" बुढ़िया के मन में यह दृढ़ विश्वास हो गया कि उसका वही बकरा पशु-योनि से छुटकर काजी बन गया है। यह सोच बुढ़िया ने अपने हाथ की रस्सी का फन्दा बना लिया और काजी को दूर से दिखाते हुए लगातार आवाज लगाने लगी—'अ र र र हिली हिली आ जा आ जा।' इजलास में बैठा काजी आश्चर्यचकित हो बुढ़िया की ओर देखने लगा और उसकी बातें सुनने लगा। फिर उसने अपने नौकर से कहा—जरा जाकर देखो तो, वह बुढ़िया दूर से क्यों रस्सी दिखाती है और बोलती है 'अ र र र हिली हिली आ जा आ जा।' तब नौकर ने उस

बुढ़िया के पास जाकर पूछा--क्या बात है? बुढ़िया बोली, "तेरे काजी को सब बातें याद हैं या नहीं? मैंने कितने प्यार से उसे खिलाया-पिलाया है। उसके शरीर पर मैं कितना हाथ फेरती थी और मैदान में चराने ले जाती थी। क्या वह इतनी जल्दी सब भूल गया? अब तो काजी बन गया है और यह देख मैं भी खुश हूँ।"

बुढ़िया की बातों को सुनकर नौकर घबरा गया। उसने काजी के पास जाकर सारी बातें कह सुनायी। सुनकर काजी इजलास से उतरकर बुढ़िया के पास आया और उससे पूछा, "आप क्या चाहती हैं और क्या बोल रही हैं?" जब काजी नजदीक आया तो बुढ़िया ने रस्सी का फन्दा झट काजी के गले में डाल दिया और कहने लगी, "अ र र र हिली, आ जा आ जा हिली, अब अपने घर चलो। इन लोगों के पास तुम्हें रहने की कोई जरूरत नहीं है।" यह कह वह काजी को अपनी ओर खींचने लगी। इस आकस्मिक घटना से काजी घबरा गया और आसपास के सभी लोग चिल्लाने लगे। तब बुढ़िया ने पूछा, "क्या तुम नहीं पहचान रहे हो? अरे, तुम तो मेरे वही प्यारे हिली हो। उस मैदान में रहनेवाले एक व्यक्ति ने मुझे बताया है कि तुम बकरा-योनि से छुटकारा पाकर आदमी बन गये हो और यहाँ काजी का काम कर रहे हो। यह तो सौभाग्य की बात है कि तुम काजी बन गये हो। इससे अच्छा और कुछ नहीं। मैं बहुत प्रसन्न हूँ, पर तुम मुझे इतनी जल्दी भूल गये यह मुझे अच्छा नहीं लगा।" घटना विस्तार से सुन काजी को बात समझ में आ गयी कि निश्चय ही उस दुष्ट आदमी ने बकरे को खा लिया है और बुढ़िया को फुसलाकर ऐसा समझा दिया है। तुरन्त ही काजी ने उस दुष्ट को पकड़ने

का आदेश दिया और उसे कड़ा दण्ड दिया।

नरेन्द्रनाथ यह कहानी बताते समय "अ र र र हिली हिली आ जा आ जा' यह आवाज ऐसी बढ़िया निकालते और मुँह का ऐसा हाव-भाव बनातेकि हम लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते। उनमें सजीव ढंग से कहानी कहने की बड़ी अदभुत क्षमता थी। एक और कहानी वे हम लोगों को को सुनाया करते:—

एक बकरी थी। एक दिन वह बाँस के पुल पर से नदी पार कर रही थी। नदी पार करते समय उसने नीचे जल में एक और बकरी को देखा, जो वास्तव में उसकी ही अपनी परछाईं थी। उसने मन ही मन सोचा कि यहाँ मेरी तरह एक बकरी और कहाँ से आ गयी। उसे बड़ा गुस्सा आया और उस दूसरी बकरी को पकड़ने के लिए उसने नदी में छलाँग लगा दी। नदी म पानी कम था, परन्तु उसका बहाव इतना तेज था कि वह छलाँग लगाते ही मर गयी। बस !

यह कहानी सुन हम सब भाई-बहन चिल्लान लगे कि अरे भैया, तुम्हारी यह कहानी तो बहुत छोटी है, यह तो बहुत जल्द खत्म हो गयी। जरा अच्छी कहानी सुनाओ। तब उन्होंने और एक कहानी कहना प्रारम्भ किया:—

एक बार एक मेंढक ने अपने घर में बहुत बड़ा यज्ञ किया। इससे उसके पास जितने पैसे थे सब खत्म हो गये, पर अभी तो उसे बहुत से लोगों को खिलाना था। तब वह मच्छर के घर यजमान बनकर गया और बोला, "हम लोगों क घर बहुत बड़ा यज्ञ हो रहा है और मैं बहुत से लोगों को खिला रहा हूँ। तुम लोगों को भी आज भोजन के लिए आमंत्रित कर रहा हूँ। पर भाई, अभी मेरे पास

बिलकुल पैसा नहीं है, इसलिए यदि तुम मुझे कुछ कौड़ी उधार में दो, तो कुछ ही दिनों में मैं तुम्हारे पैसे वापस कर दूँगा।" मेंढक के ऐसा कहने पर मच्छरों ने उसे कुछ कौड़ी उधार में दे दी। मेंढक ने घर आकर धूमधाम से यज्ञ किया और लोगों को बहुत खिलाया-पिलाया। उसके बाद वर्षा ऋतु आ गयी। मच्छर बहुत बड़ा दल बनाकर मेंढक के घर पहुँचे और जोर-जोर से चिल्लाने लगे-- "अरे भाई, हमारी कौड़ी वापस करो, वापस करो।" इतने दिनों में अच्छा-खासा भोजन कर-करके मेंढक खूब मोटा-तगड़ा हो गया था। वह पानी के भीतर से ही गला निकाल-निकालकर तथा घमण्ड के साथ पेट फुलाकर मोटी आवाज से चिल्लाने लगा--"अरे, तुम लोग कौन हो? कहाँ से आये हो ? किसकी कौड़ी की बात करते हो? किसने किसलिए और किससे उधार लिया, यह हम कुछ नहीं जानते। तुम लोग यहाँ से भाग जाओ।" यह सुन मच्छर बड़े दुःखी हुए। उन्होंने सोचा कि मेंढक को मजा चखाया जाये, पर वे पानी के भीतर जाने में असमर्थ थे। इसीलिए तालाब के ही किनारे एक पेड पर बैठ गये। थोड़ी देर में एक साँप वहाँ आया और उसने मेंढकों के उस सरदार को पकड़ लिया। मेंढक का आधा शरीर साँप के मुँह के अन्दर तो आधा मुँह के बाहर था। उसका दम घुटने लगा। इस अवस्था में मेंढक टर्राकर कहने लगा, "मच्छर "भाइयो, कौड़ी ले लो, कौड़ी ले लो!" यह सुन पेड़ के ऊपर बैठे मच्छर व्यंग्य करते हुए कहने लगे, "मेंढक भैया, अब क्यों चिल्ला रहे हो ? अब तो चुपचाप साँप के पेट में चले जाओ।"

यह कहानी सुनाते समय नरेन्द्रनाथ मुँह से मेंढक

और मच्छरों की आवाज निकालते हुए ऐसी भंगिमाएँ करते कि हम लोग हँसते-हँसते सो जाया करते थे।

○

विवेक-ज्योति के उपलब्ध पुराने अंक

वर्ष	अंक	मूल्य
१०	४	१)००
११	२	१)००
१२	४	१)५०
१९	२	२)२५
,,	३	२)२५
,,	४	२)२५
२०	१	२)२५
,,	२	२)२५
,,	३	२)२५
,,	४	२)२५

इन १० पुराने अंकों का कुल दाम १९)२५ होता है। पर जो एक साथ दसों अंक मंगायेंगे, उन्हें १५) में एक सेट प्राप्त होगा। लिखें—

व्यवस्थापक, विवेक ज्योति कार्यालय, पो. विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (म. प्र.)

कर्मयोग का स्वरूप

(गीताध्याय ४, श्लोक १४-१५)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।।१४।।

कर्माणि (कर्म) मां (मुझे) न (नहीं) लिम्पन्ति (लिपायमान नहीं करते) मे (मेरी) कर्मफले (कर्मों के फल में) स्पृहा (स्पृहा) न (नहीं है) इति (इस प्रकार) यः (जो) माम् (मुझे)अभिजानाति (अच्छी तरह से जानता है) सः (वह) कर्मभिः (कर्मों से) न (नहीं) बध्यते (बँधता है) ।

"मुझे कर्मों का लेप नहीं होता, (क्योंकि) कर्म के फल में मेरी कोई स्पृहा नहीं होती । जो व्यक्ति इस प्रकार से मुझे अच्छी तरह जान लेता है, वह (भी) कर्मों से नहीं बँधता ।"

पिछले श्लोक के अर्थ पर विचार करते हुए हमने चतुर्वर्णों की मीमांसा की। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं उन चारों वर्णों का कर्ता होते हुए भी अव्यय अकर्ता हूँ । प्रस्तुत श्लोक में उनके अकर्ता होने का कारण समझाया गया है। वे अकर्ता इसलिए हैं कि उनमें कर्मफल के लिए कोई लालसा नहीं है। जो कर्मफल चाहता है, वह कर्म का कर्ता होता है। यदि कोई कर्मफल की चाह बिना कर्म करता है, तो भले ही वह कर्ता 'दिखायी' देता है, पर वास्तव में वह अकर्ता ही है।

हम पूर्व में कह चुके हैं कि कर्म अपने आप में आत्मा पर लेप नहीं बनता। वह तो कर्म तथा कर्मफल के प्रति आसक्ति है, जो आत्मा में जाकर चिपकती है और उसके

बन्धन का कारण होती है। ईशावास्योपनिषद् के दूसरे मंत्र में इसी सत्य को प्रकट किया गया है। वहाँ कहा गया है——

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

——'इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। तुझ देहाभिमानी के लिए इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है। वास्तव में कर्म नर को नहीं चिपकता।'

इसका तात्पर्य यही है कि कर्मासक्ति और फलासक्ति ही आत्मा का लेपन करती है, कर्म नहीं। मनुष्य कर्म का कर्ता तब बनता है, जब उसमें राग-द्वेष होता है। पर ईश्वर में इस प्रकार का राग-द्वेष नहीं है, उसमें कोई कर्तव्यता भी नहीं है कि उसे कर्म करने के लिए बाध्य होना पडे, फिर भी वह सतत कर्म में लगा हुआ है, जिससे सृष्टि चलती रहे और जीव अपना कल्याण कर सके। गीता के तीसरे अध्याय में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन के समक्ष ऐसी ही बात कही थी——

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

——'हे अर्जुन, यद्यपि मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा न तो मुझे कुछ अप्राप्त है और न कुछ प्राप्त ही करना है, फिर भी मैं कर्म में ही लगा रहता हूँ।'

जब हम भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन की ओर देखते हैं, तो वह उनके इसी कथन का भाष्य दिखायी देता है। वे सतत कर्म में रत दिखायी देते हैं, पर न तो उनमें कर्म में आसक्ति दिखती है, न कर्मफल में। उनकी समस्त

चेष्टाओं के मूल में यही भाव प्रकट होता है कि धर्म की रक्षा हो और समाज में अधर्म धर्म पर हावी न होने पाए। अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित करने के पीछे भी उनका यही भाव सामने आता है।

कोई कह सकता है कि जब भगवान् ने ही चारों वर्णों की रचना की, तो वर्णभेद से उत्पन्न जो समस्याएँ हैं, वे भी तो भगवान् की ही देन हैं। इसका उत्तर हम पूर्व चर्चा, में दे चुके हैं कि ईश्वर संविधान के समान है। संविधान जब किसी चोर को दण्ड देता है और रक्षक को पुरस्कार, तो यह संविधान का दोष-गुण नहीं है, अपितु चोर अपने दोष से दण्ड पाता है और रक्षक अपने गुण से पुरस्कार। तो, जैसे संविधान में राग-द्वेष नहीं है, वह एक व्यवस्था है, उसी प्रकार भगवान् का कर्म भी विश्व में व्यवस्था के लिए है। उनमें कर्मफल की कोई लालसा नहीं है और इसीलिए उन पर कर्मों का लेप नहीं होता।

आचार्य शंकर इस श्लोक पर भाष्य करते हुए कहते हैं––"येषां तु संसारिणाम् अहं कर्ता इति अभिमानः, कर्मसु स्पृहा तत्फलेषु च, तान् कर्माणि लिम्पन्ति इति युक्तम्, तदभावाद् न मां कर्माणि लिम्पन्ति"—अर्थात् "जिन संसारी मनुष्यों का कर्मों में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा अभिमान रहता है तथा जिनकी उन कर्मों में और उनके फलों में लालसा रहती है, उनको कर्म लिप्त करते हैं यह ठीक है, पर उन दोनों का अभाव होने के कारण वे कर्म मुझे लिप्त नहीं कर पाते।"

तात्पर्य यह कि अहंकार ही बन्धन डालता है। यदि कर्म के पीछे कर्तापन का अभिमान न हो, तो कर्म व्यक्ति को बाँध नहीं पाता। यह अहंकार या अभिमान सर्प का

विषदन्त है, बिच्छू का डंक है। यदि सर्प के विषदन्त को उखाड़ लिया जाए, तो वह किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता। तब तो उसके साथ इच्छानुसार खेला जा सकता है। इसी प्रकार यदि बिच्छू के डंक को तोड़ दिया जाय, तो उसकी विष संचारित करने की क्षमता नष्ट हो जाती है। फिर तो एक बच्चा भी उसके साथ बिना किसी भय के खेल सकता है।

कर्म के सन्दर्भ में यह कर्तापन-भोक्तापन ही विषदन्त या डंक है। भगवान् अपने आचरण से प्रदर्शित करते हैं कि कैसे इस विषदन्त को तोड़कर कर्मव्याल के साथ खेला जा सकता है। तब यह कर्मघोर संसार दुर्लंघ्य सिन्धु के समान भयावह नहीं प्रतीत होता, तब तो वह खेल का मैदान ही प्रतीत होता है, जहाँ खेल खेलना सिखानेवाले 'कोच' साक्षात् भगवान् ही रहते हैं।

मनुष्य इस तत्त्व को न जानने के कारण अपने अहंकार से परिचालित होकर अपने जीवन के कर्म करता है और इसीलिए कर्मदंश से सर्वदा पीड़ित और विषाक्त बना रहता है। श्रीरामकृष्ण उदाहरण देकर समझाते हैं कि कैसे कड़ाह में आलू और परवल नाच रहे हैं। छोटा बच्चा समझता है कि आलू-परवल ही नाच रहे हैं। तब माँ कड़ाह के नीचे जलती हुई लकड़ी को खींच लेती है। कडाह के जल का खौलना बन्द हो जाता है और उसके साथ ही आलू-परवल का नाच भी। माँ ने समझा दिया कि आलू-परवल में स्वयं नाचने की क्षमता नहीं है, वह क्षमता तो अग्नि प्रदान करती है। इसी प्रकार मनुष्य जब समझ लेता है कि जिसे वह अपना कर्तापन समझता था, वह वस्तुतः उसकी क्षमता नहीं है, अपितु वह अपने अन्तरस्थ आत्म-

चैतन्य की क्षमता से इस प्रकार क्षमतावान् बनता है, तब उसकी दृष्टि भीतर विराजित प्रभु की ओर जाती है और उनकी कर्मतीव्रता एवं साथ ही उनकी असंगता देख वह विस्मय-विमुग्ध हो उठता है। तभी तो आचार्य शंकर श्री-भगवान् के कथन को स्पष्ट करते हुए अपने भाष्य में आगे कहते हैं--"इति एवं य: अन्य: अपि माम् आत्मन्वेन अभि-जानाति न अहं कर्ता न मे कर्मफले स्पृहा इति, स कर्मभि: न बध्यते। तस्य अपि न देहाद्यारम्भकाणि कर्माणि भवन्ति इत्यर्थ:"--अर्थात् "इस प्रकार जो कोई दूसरा भी मुझे आत्मरूप से जान लेता है कि 'मैं कर्मों का कर्ता नहीं हूँ', 'मेरी कर्मफल में स्पृहा नहीं है' वह भी कर्मों से नहीं बँधता अर्थात् उसके भी कर्म देह आदि के उत्पन्न करनेवाले नहीं होते।"

इसका तात्पर्य यही है कि जो भगवान् को इस प्रकार अच्छी तरह से जान लेता है, वह भी फिर कर्मों के बन्धन में नहीं बँधता। यहाँ पर 'अभिजानाति' शब्द का व्यवहार किया गया है। 'जानाति' का अर्थ है जानना। 'अभि-जानाति' का अर्थ है सब ओर से, अच्छी तरह से जानना। इसका तात्पर्य ईश्वर का साक्षात्कार नहीं है। जो ईश्वर का साक्षात्कार कर लेगा, वह तो कर्मों से बँधेगा ही नहीं। यहाँ पर यह बताया गया है कि जो ईश्वर के कर्म करने के तरीके को, ढंग को जान लेगा, वह कर्मों से नहीं बँधेगा। ईश्वर ने इतनी सुन्दर प्रकृति बनायी, इतने सुन्दर-सुन्दर फल बनाये, पर अपने भोग के लिए नहीं। फूलों का कैसा सौन्दर्यमय संसार रचा, तरह-तरह की सुगन्धियाँ निर्मित कीं--पर क्या अपने लिए?--नहीं, सब दूसरों के लिए। जब मनुष्य ईश्वर को इस प्रकार देखता है, तब उसके मन

में भी उनके ही समान कर्म करने की प्रेरणा जागती है। वस्तुतः हम ईश्वर के बनाये संसार को तो देखते हैं, पर संसार के बनानेवाले ईश्वर को नहीं देखते। इसीलिए हम अनासक्ति का पाठ नहीं पढ़ पाते और संसार में ही रम जाते हैं। पर जो संसार की सृष्टि के पीछे उसके निर्माण-कर्ता ईश्वर को देखता है, वह ईश्वर की कार्यप्रणाली देख मुग्ध हो जाता है और स्वयं भी उस कार्यप्रणाली से प्रभावित हो तदनुरूप अपने कर्म को ढालने की चेष्टा करता है। इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्णदेव का एक चुटकुला मननीय है।

एक आदमी शहर घूमने आया। वह एक रँगरेज की दुकान के पास ठिठक गया। उसे रँगरेज के कर्म में बड़ी विलक्षणता लगी। एक व्यक्ति ने दुकान में आकर कहा—मेरा कपड़ा लाल रंग में रंग दो। रँगरेज ने एक डिबिया से चुटकी भर रंग निकाला, सामने के बर्तन में उसे घोल दिया और कपड़े को उसमें डालकर छपछपा दिया। कपड़ा लाल रँग में रँग गया। एक दूसरा व्यक्ति आया। उसने माँग की कि उसका कपड़ा पीले रंग में रँग दिया जाय। रँगरेज ने उसी डिबिया से चुटकी भर रंग निकाला। सामने के बर्तन में उसे घोल, कपड़ा उसमें डाल छपछपा दिया। कपड़ा पीला हो गया। तीसरे ने अपना कपडा हरे रंग में रँगने को कहा। रँगरेज ने उसी डिबिया से चुटकी भर रंग निकालकर उसके कपड़े को हरे रंग में रँग दिया। इस प्रकार जिस ग्राहक ने जिस रंग में अपना कपडा रँगाना चाहा, रँगरेज ने उसी डिबिया से रंग निकालकर सबके कपड़े को उस-उस रंग में रँग दिया। सारे ग्राहक तो अपना कपड़ा वांछित रंग में रँगाकर चले गये, वे रँगरेज की कार्यप्रणाली की विलक्षणता नहीं पकड़ सके, पर यह जो शहर घूमने

आया हुआ व्यक्ति था, उसने विलक्षणता पकड़ ली। रँगरेज ने देखा कि एक आदमी बहुत देर से उसकी दुकान में खड़ा है और कुछ कह नहीं रहा है। जब ग्राहकों की भीड़ छँट गयी, तब वह उस दर्शक के पास आया और पूछा—"क्यों जी, बड़ी देर से खड़े हो, तुम भी कुछ रँगाना चाहते हो?' वह व्यक्ति अपना कुरता उतारते हुए बोला—"वैसे मुझे रँगाना तो नहीं था, पर तुम्हारा रँगने का कौशल देख मुझे भी रँगाने की इच्छा हो गयी है। लो, इस कुरते को रँग दो।"

"किस रंग में रँगूँ?"—रँगरेज ने पूछा।

"तुम्हारी डिबिया में जो रंग है, जिससे तुम किसी के कपड़े को लाल, तो किसी के कपड़े को पीला, हरा आदि रँग देते हो, मैं उसी रंग में अपना यह कुरता रँगवाना चाहता हूँ!"—उस व्यक्ति ने उत्तर दिया।

जैसे उस व्यक्ति ने रँगरेज को अच्छी तरह से जान लिया और फलस्वरूप उसके लाल-पीले-हरे आदि रंगों की आसक्ति में नहीं पड़ा, उसी प्रकार जो ईश्वर को अच्छी तरह से जान लेता है, वह फिर कर्म एवं कर्मफल की आसक्ति में नहीं पड़ता। वह जान लेता है कि ईश्वर गुणों और गुणों में निहित कर्मप्रवृत्तियों के नियामक होते हुए भी उनसे निर्लिप्त हैं। ईश्वर का ऐसा अभिज्ञान मनुष्य को भी कर्मों के बन्धन से अलिप्त बनाये रखता है।

प्रश्न उठता है कि क्या मात्र इतना जान लेने से कि ईश्वर कर्म करते हुए भी कर्म से लिप्त नहीं होते, मनुष्य कर्मबन्धन से अलिप्त रह सकता है? क्या मात्र इस जानकारी में इतनी क्षमता है कि वह व्यक्ति की अशान्ति को दूर कर दे और उसे परम शान्ति के निधान ईश्वर की

शान्ति से युक्त कर दे? यह कैसे सम्भव हो सकता है?

एक ने देखा कि एक व्यक्ति मजे में खड़ा है। बहुत से लोग एक विषधर सर्प को मारने के लिए लालटेन, टार्च, लाठी आदि लाने इधर-उधर भाग-दौड़ करते हुए कोलाहल कर रहे हैं और यह व्यक्ति निश्चिन्तता से मुसकराते हुए सब देख रहा है। दर्शक उस व्यक्ति की शान्ति पर आश्चर्य-चकित हो गया। उसने पास आकर पूछा, "आपको डर नहीं लगता? आप इतने शान्त कैसे खड़े हैं?" उसने मुसकराते हुए कहा, "मेरी शान्ति का रहस्य यह है कि मैं जानता हूँ वह सर्प नहीं, रस्सी है!" अब यह पूछनेवाला व्यक्ति भी उस दूसरे व्यक्ति की शान्ति के रहस्य को जानकर शान्ति पा लेता है।

इसी प्रकार जो ईश्वर के कर्म करने के रहस्य को जान लेता है, वह भी ईश्वर के ही समान कर्मों के बन्धन से अलिप्त रहता है। यही बात प्रकारान्तर से इसी अध्याय के ९वें श्लोक में भी कही गयी है, जहाँ यह सूचित हुआ है कि जो भगवान् के जन्म एवं कर्म की दिव्यता को तत्त्व से जान लेता है, वह फिर पुनर्जन्म के बन्धन में नहीं पड़ता। भगवान् के कर्म की दिव्यता ही प्रस्तुत विवेच्य श्लोक में सूचित हुई है।

जिसने इस प्रकार भगवान् के कर्म की दिव्यता को जान लिया, वह किस पकार कर्मों के बन्धन से अलिप्त रहता है? क्या कर्मों का परित्याग करके?—नहीं। तब?—कर्म करते हुए। यही अगले श्लोक में भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट किया जा रहा है—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।।१५।।

पूर्वैः (पहले के) मुमुक्षुभिः (मुमुक्षु पुरुषों के द्वारा) अपि (भी) एवं (इस प्रकार) ज्ञात्वा (जानकर) कर्म (कर्म) कृतं (किया गया) तस्मात् (इसलिए) त्वं (तू) पूर्वैः (पूर्वजों द्वारा) पूर्वतरं (पहले से) कृतं (किये हुए) कर्म (कर्म को) एव (ही) कुरु (कर)।

"पहले के मुमुक्षु लोगों के द्वारा भी इस प्रकार (कर्म करने के रहस्य को) जानकर (ही) कर्म किया गया, इसलिए तू (भी) उसी प्रकार कर्म कर, जैसे पुरखाओं ने प्राचीन काल में किया था।"

यहाँ पर भगवान् कृष्ण कर्म करने पर जोर दे रहे हैं और दृष्टान्तस्वरूप जनक आदि पुरखों की बात स्मरण करा देते हैं। गीता में जहाँ भी 'कर्म' शब्द आया है, उसका अर्थ स्वधर्माचरण लेना चाहिए। वैसे तो हर क्रिया कर्म कहलाती है, इस दृष्टि से खाना, पीना, सोना, उठना आदि सभी कर्म हैं। पर जब गीता में कहा जाता है कि 'कर्म करो', तब उसका यह अर्थ लेना चाहिए कि मनुष्य को स्वधर्माचरण करने के लिए कहा जा रहा है

हम 'स्वधर्म' पर पूर्व में विस्तृत चर्चा कर चुके हैं। गीता के दूसरे अध्याय के ३१वें श्लोक पर विचार करते हुए हमने 'स्वधर्म' पर तीन प्रवचन दिये थे—'स्वधर्म की भूमिका' (२८वाँ गीताप्रवचन), 'स्वधर्म-मीमांसा' (२९वाँ गीताप्रवचन) और 'युद्ध की धर्मिता' (३०वाँ गीताप्रवचन) शीर्षकों से। इन प्रवचनों में स्वधर्माचरण के तत्त्व पर विचार किया गया है। हमने यह कहा है कि स्वधर्माचरण ईश्वर की ओर जाने का least resistance (न्यूनतम प्रतिरोध) वाला रास्ता है। स्वधर्म के रूपायन में व्यक्ति के जन्म और परिवेश के साथ-साथ उसकी रुचि—मनोवृत्ति—का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इसे मोटे तौर पर यों कहा

जा सकता है कि स्वधर्म के गढ़ने में यदि जन्म और परिवेश का अंशदान ४० % होता है, तो व्यक्ति की प्रकृति का ६० %। परधर्म भले ही ऊपर से आकर्षक मालूम होता हो, पर स्वधर्म को छोड़कर उसको अपना लेना व्यक्ति के लिए घातक हो सकता है। मनुष्य का स्वभाव, उसकी रुचियाँ इतनी जल्दी से बदल नहीं जातीं। परिस्थितियों के सामयिक दबाव के कारण भले ही मनुष्य अपनी मनोवृत्ति के हठात् परिवर्तन के अनौचित्य को न पकड पाए, पर कुछ समय बीतने पर वह देखता है कि जिस बदलाव को उसने क्षणिक मानसिक दबाव में आकर स्वीकार किया था, वह उसके लिए अहितकारी सिद्ध हो रहा है। अपनी मौलिक भूमि से तो उसने अपने को स्वयं ही उखाड़ लिया था और इस नयी स्वीकारी गयी भूमि में वह पनप नहीं पाता, इसलिए उसकी अवस्था 'इतो नष्टः उतो भ्रष्टः' वाली हो जाती है। इसीलिए गीता में स्वधर्म के आचरण पर इतना बल दिया गया है। अर्जुन में ऐसी ही घातक प्रवृत्ति दिखलायी पड रही थी। यही कारण है कि श्रीकृष्ण बारम्बार, तरह-तरह से समझाते हुए, उसे उसके स्वधर्म की ओर मोड़ने की चेष्टा करते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में वे प्राचीनता का हवाला देते हैं, कहते हैं——देख, पहले के तेरे पुरखों ने भी कर्म करने के इस रहस्य को जानकर इसी प्रकार से कर्म किया था। संकेत जनकादि की ओर है, जिनका नामोल्लेख श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से तीसरे अध्याय के २०वें श्लोक में कर दिया है। वहाँ पर बताया गया है कि जनक आदि लोगों ने कर्म करके ही मोक्षरूप परमसिद्धि को प्राप्त किया था। यहाँ पर श्रीकृष्ण प्राचीन उदाहरण का उल्लेख कर यह बताना

चाहते हैं कि यह मात्र मेरा अभिमत नहीं है, अर्जुन, कि योग का भाव लेकर कर्म करने से मोक्ष प्राप्त होगा, अपितु यह एक प्राचीन सत्य है, जो तेरे ही पुरखों के जीवन में प्रतिफलित हुआ था।

प्राचीनता की ओर देखने का तात्पर्य नवीनता या वर्तमान की उपेक्षा नहीं है। श्रीकृष्ण के इस कथन का कुछ लोग ऐसा अर्थ लगा सकते हैं कि वे प्राचीनता पर बल देकर अन्धश्रद्धा को प्रोत्साहित कर रहे हैं और मनुष्य के विवेक-विचार को दबा दे रहे हैं। पर ऐसा सोचना श्रीकृष्ण के साथ न्याय नहीं होगा। यहाँ प्राचीन और नवीन का, विश्वास और विवेक का झगड़ा नहीं है। यहाँ केवल यह कहा जा रहा है कि परम्परा यदि स्वस्थ है, तो उसे 'भी' जीवन में स्थान दिया जाना चाहिए। यह ठीक है कि व्यक्ति को परम्परावादी नहीं बनना चाहिए, पर साथ ही यह भी सही है कि यदि कोई परम्परा समाज के उन्नयन में सहायक रही हो और उसने व्यक्ति के समक्ष शाश्वत सत्य का उद्घाटन करने में अहम भूमिका का निर्वाह किया हो, तो 'परम्परा' कहकर उसका परित्याग भी नहीं किया जाना चाहिए।

हम समाज में दो प्रकार के लोग देखते हैं; एक तो वे हैं, जो प्राचीन को ही सारा सत्य मानते हैं और नवीन की पूरी तरह से उपेक्षा करते हैं; और दूसरे वे हैं, जो प्राचीन मात्र को अन्धविश्वास मानकर आँखें मूँदकर नवीन के पीछे चल पड़ते हैं। ये दोनों एकांगी हैं। पहले ने किसी नयी बात में कोई दोष देखा होगा, इसलिए उसने नवीन मात्र का बहिष्कार कर दिया। दूसरे ने किसी प्राचीन परम्परा में कोई बुराई देखी होगी, तो उसने सारी प्राचीनता

को ही तिरस्कृत कर दिया। एक से कहो कि मनु ने ऐसा कहा है, गौतम ने ऐसी घोषणा की है, तो बस, वह आँख मूँदकर उनका समर्थन करने लगता है। उसमें ऐसा सोचने की वृत्ति ही नहीं उठती कि वर्तमान सन्दर्भों के निकष पर मनु या गौतम आदि प्राचीन ऋषियों की बातों को कसकर देखा जाय। दूसरी ओर वह है, जिसके सामने कहा जाय कि हक्सले ने ऐसा कहा है, रसेल ऐसा कहते हैं, मार्क्स का ऐसा कथन है, तो बस, वह उसी को प्रमाण मानकर प्राचीनता का जनाजा निकालने के लिए तैयार रहता है। वह यह सोचने के लिए तैयार नहीं कि हमारे देश के सामाजिक परिवेश और सन्दर्भों को देखते हुए हक्सले, रसेल, मार्क्स आदि की बातों का चिन्तन किया जाना चाहिए। अब पूरा सत्य न तो प्राचीनता में है, न नवीनता में ही। सत्य काल की सीमा का शिकार नहीं हुआ करता। सत्य को हम लोग जब संकुचित दृष्टि से देखते हैं, तब उसे दलीय या दलगत बना लेते हैं। इसमें हमारा स्वार्थ ही कारण होता है और तब प्राचीन और नवीन का झगड़ा प्रारम्भ हो जाता है।

मध्ययुग में समाज पर प्राचीनता की पकड़ कड़ी हो गयी दिखायी देती है। तभी तो हम अत्यन्त संरक्षणशील हो गये, हमारी बुद्धि पर मानो ताला जड़ दिया गया और हमसे कहा गया कि चूँकि अमुक-अमुक ऋषि-मुनि ने कहा है, इसलिए इसे मान लो, तर्क मत करो। और धीरे-धीरे सचमुच हमने यही मान लिया कि धर्म तर्क की, विचार की वस्तु नहीं है। मानो हमने अपनी बुद्धि को उन लोगों के पास गिरवी रख दिया, जो धर्म के स्वयम्भू नेता बने बैठे थे और उन्होंने जैसा पाठ पढ़ाया, हमने पढ़ लिया। स्वामी

विवेकानन्द के मत से यही हमारे अधःपतन का कारण है। हमने विवेक की रोशनी के लिए अपनी बुद्धि के कपाट बन्द कर लिये।

जब तक जल की धारा बहती रहती है, उसमें प्रवहमानता होती है, तब तक जल शुद्ध और प्राणप्रद बना रहता है। पर जब हम धारा को रोक देते हैं, तो धीरे-धीरे ठहरे जल में सड़ाँध पैदा होती है और उसमें हानिकारक कीटाणु जन्म लेते हैं। यही बात विचार-प्रवाह पर भी लागू होती है। जब तक वह कुन्द नहीं होता, तब तक स्वस्थ और लाभकारी विचारों का जन्म होता रहता है और व्यक्ति इन विचारों का प्रयोग करता हुआ समाज की चेतना को ऊर्ज्वसित और सतेज करता रहता है। पर जब विचारों का प्रवाह बन्द कर दिया जाता है, जब विचारों के प्रयोग की मनाही हो जाती है, तब समाज गतानुगतिक और संरक्षणशील होने लगता है। फलतः संकीर्णता उदारता पर हावी हो जाती है और समाज का स्वास्थ्य ही इस संकीर्णता का शिकार हो जाता है।

आज विज्ञान का हर अंग इतना सतेज, इतना उन्नत कैसे है?——इसलिए कि उसके हर अंग में गवेषणाएँ चली हैं, अनुसन्धान चले हैं। नित नये 'रिसर्चों' से विज्ञान की दुनिया अधिकाधिक समृद्ध और सम्पुष्ट होती जा रही है तथा मनुष्य की भौतिक शक्तियों में बेतहाशा बढ़ती हो रही है। अब कल्पना कीजिए, कोई वैज्ञानिक, कोई भौतिकशास्त्री कह उठे कि हमें भौतिकी के क्षेत्र में जो पाना था पा लिया, अब उसमें पाने का कुछ न रहा, इसलिए 'रिसर्च' बन्द करते हैं, तब परिणाम क्या होगा?——यही कि भौतिकी को लकवा मार जायगा। यह सत्य जीवन के समस्त पक्षों पर

लागू होता है। ज्योंही हम किसी क्षेत्र में विचार-चिन्तन की प्रक्रिया को कुन्द करते हैं, वह क्षेत्र मानो लकवाग्रस्त हो जाता है। हमने अपने देश में धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में यही किया। हमने सोचना बन्द कर दिया। उपनिषदों की स्वस्थ प्रवहमानता को तथाकथित श्रद्धा-विश्वास के रोड़े डालकर कुन्द कर दिया। हमारे ये जीवन्त शास्त्र-ग्रन्थ मात्र सुनने और मानने की पोथी बन गये। हमने बदले परिवेशों और परिस्थितियों में उनके पुनर्मूल्यांकन की बात को ही नकार दिया। इसका परिणाम जो होना था, वह आज आँखों के सामने प्रबल चारित्रिक संकट के रूप में दिखायी दे रहा है। यह विचार को भोथरा कर देने का ही परिणाम है कि हम मन्दिर में जाकर पूजा भी करते हैं और साथ ही अपने निर्धन भाइयों की गर्दन को निर्दयता से मरोडते भी हमें संकोच नहीं होता। हम एक ओर दान देकर पुण्यात्मा का गौरव भी प्राप्त करते हैं और दूसरी ओर असहायों का बेदर्दी से शोषण करते हुए भी हमें हिचक नहीं होती। एक ओर हम धर्मग्रन्थों की दुहाई देते हुए ईश्वर की सर्वव्यापकता और सर्वमयता के राग अलापते हैं, तो दूसरी ओर छुआछूत की भावना को प्रश्रय देते हुए मनुष्य को अछूत भी मानते हैं। एक ओर हम 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' कहते हुए बडी उदारता प्रदर्शित करते हैं, तो दूसरी ओर घोर स्वार्थ से प्रेरित हो मैं-मैं, तू-तू करते हुए अपने ही सगे-सम्बन्धियों के गले पर छुरा फेरने से भी बाज नहीं आते। जो पण्डा देवता का स्वयम्भू दलाल बनकर यजमान को देवता की पूजा के माध्यम से स्वर्ग-अपवर्ग प्राप्त करा देने की बात कहता है, उसे स्वयं न तो देवता पर आस्था है, न भक्ति। यह हमारे जीवन का प्रचण्ड द्वन्द्व

है, जो हमारे पतन का कारण है। यह द्वन्द्व हमारे व्यक्तिगत और राष्ट्रीय चरित्र को निगल गया है। हम खुश्क गले को शराब से तर करके शराबबन्दी पर जोरदार भाषण देते नहीं लजाते। दो हाथों से अवांछित, बुरे तरीकों से पैसा बटोरते हुए हमें अपरिग्रह पर भाषण देते शर्म नहीं आती। यह सब इसलिए कि इस द्वन्द्व के कारण हमारी शर्म मर चुकी है, हमारे भीतर का इन्सान खत्म हो गया है। जब तक हमारे जीवन का यह द्वन्द्व समाप्त नहीं होता है, तब तक हम एक मनुष्य के रूप में ऊपर उठ नहीं पाएँगे। फलस्वरूप हमारा देश भी नहीं उठ पाएगा।

महाकवि कालिदास ने समाज की इस दकियानूसी को पकड़ा था। उसने इस पर प्रहार करते हुए जो लिखा था, वह आज एक सुप्रसिद्ध श्लोक बन गया है। वह कहता है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि किंचिन्नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्तरद भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥

—पुरानी होने से ही सब बातों को अच्छा नहीं मान लेना चाहिए और नयी होने से ही किसी बात को दोषयुक्त नहीं माना जाना चाहिए। सज्जन पुरुष तो परीक्षा करके किसी बात को अच्छा या बुरा मानते हैं, पर वे मूढ़ हैं, जो दूसरों के कहने पर अथवा प्राचीनकाल से अच्छी कही जाते रहने के कारण किसी बात को अच्छा मान लेते हैं।

कालिदास की इस उक्ति में प्राचीनता की आड़ लेकर सत्य के दबाये जाने की व्यथा है। जो व्यक्ति एकाधिकार का पक्षधर है, वह कभी भी नवीनता को उभरने नहीं देगा,

क्योंकि इससे उसकी रोजी-रोटी मारी जाएगी। सम्भवतः भिषगाचार्य वाग्भट्ट को ऐसा ही समय देखने को मिला था। उसने आयुर्वेद पर एक नया ग्रन्थ लिखा था, जिसमें कई नयी बातों का समावेश किया था। जब प्राचीनता के पक्षधर लोगों ने उस पर कटाक्ष किया, तब उसे भी कहना पड़ा था——

ऋषिप्रणीते श्रद्धाचेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते ततो ग्राह्यं सुभाषितम्॥

——यदि यही बात हो कि ऋषिप्रणीत होने पर ही ग्रन्थों पर श्रद्धा की जाय, तो फिर चरक और सुश्रुत का इतना आदर क्यों? उन्हें छोड़कर भेड़संहिता आदि ही क्यों न पढ़े जायँ? ऋषिप्रणीतता तो उनमें भी समान ही है। चरक और सुश्रुत का इतना आदर होने का कारण उनका सुभाषित ही है; उन्होंने जो कहा है, वह विचार और अनुभव की कसौटी पर खरा उतरता है। फिर मेरा कहा हुआ सुभाषित भी क्यों न आदर पाएगा!

तो, विवेच्य श्लोक में भगवान् कृष्ण प्राचीन पुरुषों का जो हवाला देते हैं, वह मात्र प्राचीनता की पक्षधरता की दृष्टि से नहीं, अपितु यह दर्शाने के लिए कि यह कर्मयोग प्राचीनकाल से आजमाया हुआ उपाय है। श्रीकृष्ण स्वयं इस कर्मयोग के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उनका जीवन कर्मयोग की जीती-जागती मूर्ति है। यदि नवीनता वर्तमान की समस्याओं का समुचित उत्तर प्रदान करती हो और साथ ही उसका आधार प्राचीनता हो, तो इसे मणि-कांचन-योग ही कहा जाएगा। भगवान् कृष्ण प्राचीनता और नवीनता के मिलन के मूर्तिमान् स्वरूप हैं। इसे हम सिद्धान्त और व्यवहार का, शब्द और अनुभूति का, शास्त्र और कला का

मेल भी कह सकते हैं। श्रीकृष्ण महज उदारण के लिए जनकादि का नामोल्लेख नहीं करते, बल्कि इसलिए करते हैं कि जनक भी वैज्ञानिक प्रवृत्ति और मेधा से सम्पन्न थे। वे अन्धविश्वासी नहीं थे। उनका जीवन भी सत्य के अनुसन्धान के लिए प्रयोगशाला के समान था। इसलिए जनक में सिद्धान्त और व्यवहार का, शब्द और अनुभूति का अद्‌भुत मेल था। इस मेल को ही भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के सामने रख रहे हैं और उससे कहते हैं कि तू भी इस प्रकार कर्म करते हुए कर्मयोग का परीक्षण कर ले।

भारतीय अध्यात्म साधना में यह बताया गया है कि साधक शास्त्र और गुरु के वचनों को अपनी अनुभूति से मिलाने की चेष्टा करता है, और उसकी चेष्टा की सफलता ही सत्य का साक्षात्कार है। तब मोक्ष का द्वार उसके लिए उद्‌घाटित हो जाता है। यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण जनकादि का उल्लेख कर शास्त्रवचन को सामने रख रहे हैं। फिर अपनी अनुभूति तो उन्होंने पूर्व श्लोक में व्यक्त कर ही दी। अब वे अर्जुन से कहते हैं कि तू भी कर्मयोग का आश्रय ले इन अनुभूतियों का मिलान कर ले और इस प्रकार सत्य प्राप्ति का अधिकारी बन जा।

हम उपनिषदों में भी यही धारा देखते हैं। ईशावास्योपनिषद् में ऋषि अपने शिष्यों को ज्ञानोपदेश प्रदान करते हुए कहते हैं---'इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे' (१०, १३)---ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उस की व्याख्या की थी।' मुण्डकोप-निषद् में अंगिरा ने शौनक के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा---'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति' (१।४)---'दो विद्याएँ जानने योग्य हैं ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं।' तात्पर्य

यह कि गुरु शिष्य के समक्ष यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि यह जो मैं तुम्हें बता रहा हूँ, उसे तुम मात्र मेरी बात मत मानो, इसके पीछे पूर्व के महापुरुषों की भी अपरोक्ष अनुभूतियाँ हैं।

श्रीरामकृष्णदेव अपने शिष्यों से प्रायः कहा करते—मैं कह रहा हूँ ऐसा सोचकर स्वीकार मत करना, पर अपने तईं ठोंक-बजाकर देख लेना और जाँचने पर जब बात सही लगे, तब मानना। प्रस्तुत श्लोक में भी हमें यही पद्धति दिखायी देती है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को पूर्वजों के दिखाये कर्ममार्ग से चलने की सलाह देते हैं और मानो यह संकेत करते हैं कि डर किस बात का, अर्जुन! देख, मैं तो तेरे सामने ही हूँ। श्रीकृष्ण के रूप में मानो कर्मयोग का स्वरूप ही अर्जुन के सामने मूर्तिमान् हो गया है।

○

आकाश में चन्द्रमा बादलों से ढँक गया है। जब वायु धीरे धीरे बादलों को हटा देती है, तभी चन्द्रमा दिखायी पडता है। क्या बादल तत्काल हट जाते हैं? यही बात आध्यात्मिक पूर्णता में भी होती है। विगत कर्मों का प्रभाव धीरे धीरे नष्ट होता है। जब भगवान् के दर्शन होते हैं, तब वे आत्मा को ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण कर देते हैं। ऐसा जिसके साथ होता है, वही इसे जानता है।

—श्री माँ सारदा

रामकृष्ण-सूक्ति-मन्दाकिनी

किताबी ज्ञान का खोखलापन

१. एक दिन केशवचन्द्र सेन दक्षिणेश्वर आये और उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव से पूछा, "बहुत से पण्डित शास्त्रों का समूचा पुस्तकालय ही पढ़ डालते हैं, परन्तु फिर भी उनमें आध्यात्मिक जीवन-सम्बन्धी इतना घना अज्ञान कैसे बना रहता है?" इस पर श्रीरामकृष्णदेव ने उत्तर दिया, "चील-गिद्ध बहुत ऊँचा उड़ते हैं, पर उनकी नजर मरे जानवरों की सड़ी लाश पर गड़ी रहती है। इसी प्रकार, अनेक शास्त्रों का पाठ करने के बावजूद इन तथाकथित पण्डितों का मन सदा सांसारिक विषयों में, कामिनी-कांचन में आसक्त रहता है; इसीलिए उन्हें ज्ञानलाभ नहीं होता।"

२. जिस ज्ञान से चित्तशुद्धि होती है, वही यथार्थ ज्ञान है; बाकी सब अज्ञान है।

३. कोरे पाण्डित्य से क्या लाभ? पण्डित को बहुत सारे शास्त्र, अनेकों श्लोक मुखाग्र हो सकते हैं, पर वह सब केवल रटने और दुहराने से क्या लाभ? अपने जीवन में शास्त्रों में निहित सत्यों की प्रत्यक्ष उपलब्धि होनी चाहिए। जब तक संसार के प्रति आसक्ति है, कामिनी-कांचन पर प्रीति है, तब तक चाहे जितने शास्त्र पढ़ो, ज्ञानलाभ नहीं होगा, मुक्ति नहीं मिलेगी।

४. तथाकथित पण्डित लोग बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। वे ब्रह्म, ईश्वर, निर्विशेष सत्ता, ज्ञानयोग, दर्शन और तत्त्वज्ञान आदि कितने ही गूढ़ विषयों की चर्चा करते हैं। किन्तु उनमें ऐसों की संख्या बहुत कम है, जिन्होंने इन विषयों की उपलब्धि की है। उन लोगों में अधिकांश ही शुष्क और नीरस होते हैं, वे किसी काम के नहीं।

५. मृदंग या तबले के बोल मुँह से निकालना आसान

है, किन्तु प्रत्यक्ष बजाना कठिन। इसी तरह धर्म की बातें कहना तो सरल है, किन्तु आचरण में लाना कठिन।

६. वैसे तो तोता दिन भर 'राधाकृष्ण' रटता है, परन्तु जब बिल्ली धर दबाती है तो वह 'राधाकृष्ण' भूलकर 'टें टें' करने लगता है। वैषयिक सुख-समृद्धि की आशा से संसारी लोग भी बीच-बीच में हरिनाम लेते हैं और दान-धर्म आदि पुण्य कर्म किया करते हैं, परन्तु दुःख-दैन्य-विपत्ति या मृत्यु का समय आते ही वे यह सब भूल जाते हैं।

७. क्या धार्मिक ग्रन्थ पढ़कर भगवद्भक्ति प्राप्त की जा सकती है? पंचांग में लिखा होता है कि अमुक दिन इतना पानी बरसेगा; परन्तु समूचे पंचांग को निचोड़ने पर तुम्हें एक बूँद भी पानी नहीं मिलता! इसी प्रकार, पोथियों में धर्म सम्बन्धी अनेक बातें लिखी होती हैं, पर उन्हें केवल पढ़ने से धर्म लाभ नहीं होता, उसके लिए तो इन तत्त्वों को लेकर साधना करनी होती है।

८. ईश्वर के राज्य में विद्या, बुद्धि, युक्ति आदि का विशेष मूल्य नहीं। वहाँ तो गूँगा बोलता है, अन्धा देखता है और बहरा सुनता है।

९. केवल शास्त्र पढ़कर ईश्वर के बारे में समझाना मानो नक्शे में काशी देखकर किसी के आगे काशी का वर्णन करना है।

१०. 'भाँग भाँग' कहकर कितना भी चिल्लाओ, उससे नशा नहीं चढ़ने वाला। भाँग ले आओ, उसे घोंटो, पियो, तभी उसका नशा चढ़ेगा। सिर्फ 'भगवान् भगवान्' कहकर चिल्लाने से क्या लाभ? नियमित रूप से साधना करो, तभी तुम्हें सिद्धि मिलेगी।

११. जिसे विद्या या धन का गर्व हो, उसे ईश्वर-

लाभ नहीं हो सकता। ऐसे व्यक्ति से यदि तुम पूछो, "अमुक स्थान पर एक अच्छे साधु हैं, उनके दर्शन के लिए चलोगे?" तो अवश्य ही वह बहाना बनाते हुए कहेगा, "मैं नहीं जा सकता।" वह सोचता है—'मैं इतना बड़ा आदमी! मैं उसके पास जाऊँगा!' अज्ञान के कारण ही यह अहंकार होता है।

१२. जो लोग थोड़ी पुस्तकें वगैरह पढ़ लेते हैं, वे एकदम घमण्ड से फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। एक जन के साथ मेरी ईश्वर-सम्बन्धी बातचीत हुई थी। वह कहने लगा, "यह सब मैं जानता हूँ।" मैं बोला, "जो दिल्ली हो आया है, क्या वह गर्व करते हुए, 'मैं दिल्ली हो आया', 'मैं दिल्ली हो आया' ऐसा कहता फिरता है? जो बाबू है, क्या वह सबसे कहता फिरता है कि मैं बाबू हूँ?"

१३. ग्रन्थ सब समय ग्रन्थ का काम न कर ग्रन्थि (गाँठ) का ही काम करते हैं। यदि उन्हें सत्यप्राप्ति की स्पृहा लेकर, विवेक-वैराग्ययुक्त अन्तःकरण से न पढ़ा जाय, तो उनके पठन से पाण्डित्याभिमान, दाम्भिकता और अहंकार की गाँठ ही पक्की होती जाती है।

१४. गरम राख की ढेरी पर पानी डालते ही सब का सब पानी उड़ जाता है। अभिमान-दाम्भिकता भी राख की ढेरी के समान है। दाम्भिक अन्तःकरण लेकर ध्यान-भजन, प्रार्थना आदि करने से कोई फल नहीं मिलता।

○

पुस्तक-समीक्षा

साहित्य-वीथी

पुस्तक का नाम : 'हेलेन केलर्स रिफ्लेक्शन्स'

लेखिका : विक्टोरिया ह्यूगो, पी-एच.डी.

प्रकाशक : स्वामी असक्तानन्द, सचिव, रामकृष्ण मिशन, पो.आ.– नरेन्द्रपुर, २४ परगना, पश्चिम बंगाल (भारत)

पृष्ठ संख्या : १३७

मूल्य : १० रुपये

प्रसिद्ध अमरीकी लेखिका डा. विक्टोरिया ह्यूगो द्वारा अँगरेजी भाषा में लिखी गयी पुस्तक—'हेलेन केलर्स रिफ्लेक्शन्स' वास्तव में एक ऐसी उत्कृष्ट रचना है, जो न केवल आधुनिक युग के लोगों के लिए प्रेरणा देनेवाली है, वरन् आनेवाली अनेक पीढ़ियों के लिए भी सदा प्रकाशस्तम्भ का कार्य करती रहेगी। यह विश्वप्रसिद्ध उस महान् अमरीकी महिला हेलेन केलर की कहानी कहती है, जो बचपन से ही अन्धी, बधिर एवं मूक रहने के बावजूद अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति से पढ़ना, लिखना और बोलना सीखती है तथा बड़ी होने पर विश्व के असंख्य अन्धे, बहरे और अपाहिज बच्चों की मसीहा बन जाती है।

२७ जून सन् १८८० को कप्टेन केलर के घर जन्मी हेलेन बचपन से ही अत्यन्त क्रियाशील थी, किन्तु सात वर्ष की होते-होते वह बड़ी गुमसुम और निराश हो गयी। उसे अधिकतर घर में ही रखा जाता। दृष्टि और श्रवण शक्ति से विहीन इस बालिका की बुद्धि तीक्ष्ण होते हुए भी वह अन्धकार के आवरण में ढकी रही। ३ मार्च सन् १८८७ को अचानक 'टीचर' एनी सुलीवान ने उसके जीवन में प्रवेश किया। एक माह की लघु अवधि में ही टीचर ने हेलेन की आन्तरिक प्रतिभा को परख लिया और उसे अपने संरक्षण में रखकर उसकी आत्मिक शक्ति को जागृत किया।

टीचर एनी सुलीवान का स्वयं अपना जीवन बाल्यकाल से ही कष्टों और दु:खों में पला। वे शरीर से दुर्बल और दृष्टि से कमजोर थीं, किन्तु हेलेन केलर से वे इतनी प्रभावित हुईं कि उन्होंने उसे हर तरह से प्रेरित और प्रोत्साहित किया। उन्होंने कठिन परिश्रम और त्याग करके हेलेन को रेडक्लिफ कॉलेज से ग्रेजुएट कराया। हेलेन अपनी शिक्षा-दीक्षा एवं मानवता के लिए समर्पित अपने भावी जीवन का सम्पूर्ण श्रेय अपनी परम श्रद्धेय एवं प्रिय टीचर एनी सुलीवान को देती है। हेलेन को पाली थामसन नामक एक और महिला-मित्र एवं सहयोगी का साथ मिलता है, जो अन्त तक उसके साथ रही। वास्तव में हेलेन केलर, टीचर एनी सुलीवान और पाली थामसन की एक ऐसी त्रिवेणी थी, जो हर समय और हर जगह एक साथ रहती थी। तीनों के जीवन का एक ही लक्ष्य––अन्धे और बहरों की सेवा—होने के कारण वे सदा साथ-साथ काम करती रहीं। अलेक्जेंडर ग्राह्म बेल तथा मार्क ट्वेन ने भी इन महिलाओं की सदा सहायता की। हेलेन केलर ने इनके प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित की है।

हेलेन केलर का जीवन सम्पूर्ण मानवता के लिए एक महान् आदर्श है। मूक, बधिर और अन्ध रहते हुए भी उन्होंने कभी जीवन से हार नहीं मानी और न ही कभी निराशा को पास फटकने दिया। रेडक्लिफ कॉलेज से लिखना, पढ़ना और बोलना सीखते ही वे अन्धों, बधिरों और अपाहिजों की सेवा में तन, मन, धन से समर्पित हो गयीं। उन्होंने लाखों और करोड़ों रुपया एकत्र किया तथा उसे पूरा का पूरा अन्ध-बधिरों की संस्थाओं को दे दिया। उन्हें देश-विदेश से कई निमंत्रण मिले, जहाँ धन के साथ-साथ कई कीमती वस्तुएँ उन्हें भेंट में दी गयीं, किन्तु उनमें से अपने लिए कुछ भी न रखते हुए उन्होंने सब कुछ अन्ध-बधिरसेवी संस्थाओं को दे दिया।

हेलेन केलर सांकेतिक स्पर्श-लिपि से पढ़तीं और विशेष टाइप-राइटर पर लेख आदि टाइप करती थीं। उन्होंने विश्व की कई भाषाएँ सीखीं तथा महान् लेखकों की पुस्तकों का अध्ययन किया। उन्होंने स्पर्श-लिपि में स्वयं अनेक पुस्तकें लिखीं। उनकी बौद्धिक प्रतिभा को देखते हुए अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें डॉक्टरेट की उपाधि से विभूषित किया। हेलेन केलर में कार्य करने की ऐसी विलक्षण शक्ति थी कि आवश्यकता पड़ने पर वे १५-१६ और कभी-कभी १८ घण्टे तक प्रतिदिन कार्य करती थीं। उनकी दिनचर्या बड़ी नियमित रहती थी। वे प्रातः उठकर अपने कुत्तों के साथ घूमने जातीं तथा ऐसा शायद ही कोई कार्य हो जो वे न कर पातीं। वायु-कम्पन के स्पर्श से वे अपने आसपास के वातावरण एवं हलचल से शीघ्र परिचित हो जाती थीं।

हेलेन केलर का हृदय करुणा और ममता का अथाह सागर था। बच्चों से उन्हें इतना प्रेम था कि उनके द्वारा भेजे गये प्रत्येक पत्र का उत्तर वे स्वयं देती थीं। वे जीवन भर निःस्वार्थ भाव से मानवसेवा का कार्य करती रहीं। उनका कहना था—"दूसरों की सहायता करो, किन्तु फल की आशा मत रखो।" मानवीय शक्ति में विश्वास रखते हुए भी वे ईश्वर में गहरी आस्था रखती थीं तथा नियमित रूप से प्रार्थना करती थीं। हिम्मत हारनेवालों के लिए उनका सन्देश था—"अपने में विश्वास करो और ईश्वर में आस्था रखो।" हेलेन का हृदय बड़ा उदार एवं दृष्टिकोण व्यापक था। वे विश्व के प्रत्येक देश के हर प्राणी को समान दृष्टि से देखती थीं और उन्हें अपनी करुणा, ममता एवं स्नेह का मुक्तहृदय से दान देती थीं। अपाहिजों के लिए तो वे अपना सर्वस्व त्याग करने के लिए सदा तत्पर रहती थीं। सम्भवतः यही कारण है कि उनके बारे में कहा जाता है कि वे 'एक व्यक्ति नहीं वरन् एक संस्था' थीं।

करुणा की साक्षात् देवी एवं मानवता की सच्ची पुजारी ऐसी अद्वितीय महिला हेलेन केलर के विचारों एवं संस्मरणों पर आधारित यह रचना बड़ी सुन्दर बन पड़ी है। यह आज के प्रत्येक बच्चे, युवक, बूढ़े, स्त्री एवं पुरुष के लिए पठनीय है। यह प्रत्येक स्कूल एवं कॉलेज के वाचनालय के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। विशेषकर आज के युग में भटकी हुई, निराशा एवं भग्नाशा से पीड़ित युवा पीढ़ी के लिए तो यह रामवाण सिद्ध होगी।

पुस्तक की भाषा बड़ी ही सरल, रोचक एवं आकर्षक है। मुद्रण त्रुटिविहीन है। पुस्तक यदि सचित्र होती तो और भी आकर्षक हो जाती। पुस्तक का मूल्य भी उचित है।

७/१५०, बैजनाथपारा
रायपुर (म.प्र.)

—आचार्य शम्सुद्दीन

○